ब्रह्मचर्य

(सूत्रों पर से एक संकलन और अनुवाद)

भूमिका लेखक

छोगमल चोपड़ा बी० ए० बी० एल०

संग्राहक

श्रीचन्द रामपुरिया

भूमिका

विषय ब्रह्मचर्य—लेखक श्रीचन्दजी रामपुरिया और मुझे भूमिका लिखने के लिये अनुरोध किया जाय। ऐसे विषय पर—ऐसे लेखक द्वारा, जो कि परिश्रमी व अत्यन्त अनुसन्धान प्रिय हैं, लिखे हुए निबन्ध पर भूमिका की कोई जरूरत नहीं; परन्तु तब भी लेखक का आग्रह मुझे विवश कर रहा है।

जैन धर्मावलम्बियों को "ब्रह्मचर्य" का विशेष परिचय कराने की जरूरत नहीं। धार्मिक दृष्टि से चौथे व्रत या अनुव्रत का महत्व भी कम नहीं। विषय वासना को नियन्त्रित करने के लिये यह व्रत सर्वापेक्षा अधिक उपयोगी है। जैनागमों में व जैन ग्रन्थों में इस पर बहुत कुछ विवेचन किया गया है। ब्रह्मचर्य पालन के लिये शास्त्रों में जो नव बाड़ का विधान बतलाया गया है वह वास्तव में संयमित जीवन-पालन के लिये एक अमूल्य पथ है। शायद ही कोई दूसरे मत के ग्रन्थों में इस तरह का सूक्ष्म विवेचन ब्रह्मचर्य-रक्षा के उपायों पर किया गया हो। व्यक्तिगत जीवन में पारमार्थिक दृष्टि से, ब्रह्मचर्य पालन का जो स्थान है, उसको छोड़ कर साधारण सामाजिक, जातीय व राष्ट्रीय जीवन में भी हरएक के लिए ब्रह्मचर्य पालन की आवश्यकता कम नहीं है। ब्रह्मचर्य आरोग्यता का प्रधान साधन है। समाज का अंग स्वरूप प्रत्येक व्यक्ति बलिष्ठ, निरोग व सदाचारी तब ही हो सकता है जब वह ब्रह्मचर्य का यथासम्भव पालन करता हो। सामाजिक व पारिवारिक जीवन की सुख-शान्ति भी ब्रह्मचर्य पर बहुत कुछ निर्भर करती है।

सम्पूर्ण ब्रह्मचारी तो संसार त्यागी महात्मा ही बन सकते है। परन्तु जैन शास्त्रकारों ने गृहस्थ जीवन में आंशिक ब्रह्मचर्य पालन के लिए जो नियम बतलाये हैं वे वास्तव में मनुष्य की भोग-लालसा, विषय-लोलुपता को धीरे-धीरे नियन्त्रित कर क्रमशः सम्पूर्ण ब्रह्मचर्य के लिए भूमिका तैयार कर देते हैं।

लेखक ने छोटे से निबन्ध में जरूरी जानने लायक बातें शास्त्रों से उद्धृत कर साधारण पाठकों के सामने एक ही जगह सब बातें संकलित कर विचारने का, मनन करने का व व्रत धारण करने की सुविधा कर दी है।

अन्त में सुन्दर पौराणिक आख्यायिकायें सुन्दर आकर्षक शब्दों में परिशिष्ट-रूप में देकर निबन्ध को रोचक बना दिया है। आशा है रामपुरियाजी ऐसे ही भिन्न-भिन्न विषयों पर शास्त्रीय प्रमाण और आख्यायिकायें पूर्वक निबन्ध लिख कर लोगों की दृष्टि जैन शास्त्र के अमूल्य भण्डार पर अधिकतर आकर्षित करेंगे। पाठकों से अनुरोध है कि वे इस निबन्ध को एक बार, दो बार नहीं, बारबार पढ़ें और अपना जीवन इसके अनुसार चलाने के लिए तैयार करें। तब न केवल आत्मिक उन्नति ही होगी, परन्तु समाज भी संयमी पुरुष व महिलाओं के समवाय से सुसंगठित, सुनियन्त्रित, समृद्ध व उन्नत बनेगा। पाठक स्वयं इस निबन्ध को पढ़ कर ही सन्तोष न करें पर अपने इष्टमित्र बन्धु बान्धव मित्र व परिचित सब को यह लेख पढ़ने व मनन करने के लिए प्रोत्साहित करें—यही हमारी हार्दिक इच्छा है।

श्रावण कृष्ण दशमी
सं० १९९९

छोगमल चोपड़ा

* *

*

ब्रह्मचर्य

१—ब्रह्मचर्य विवेचन :

२—ब्रह्मचर्य की कथाएँ :

अबंभ चरियं घोरं
पमायं दुरहिट्ठियं
नायरंति मुणी लोए
भेयायण वज्जिणो

चारित्र को भंग करनेवाले स्थानों से सदा सशंक रहनेवाले मुनि, प्रमाद के घर, महा असेव्य और घोर दुष्परिणामवाले अब्रह्मचर्य का, सेवन नहीं करते।

मूलमेय महम्मस्स
महादोस समुस्सयं
तम्हा मेहुण संसग्गं
निग्गंथा वज्जयंति णं

अब्रह्मचर्य अधर्म का मूल और महादोषों की जन्मभूमि है। निर्ग्रन्थ मुनि इसी विचार से सब प्रकार के मैथुन-संसर्गों का त्याग करते हैं।

से णो काहिए,
णो पासणिए,
णो संपसारए,
णो ममाए,
णो कयकिरिए,
वइगुत्ते
अज्झप्पसंवुडे
परिवज्जए
सदा पावं।

ब्रह्मचारी, स्त्री-सम्बन्धी-शृंगार-कथा, न करे, स्त्रियों के अंगोपांग आदि का निरीक्षण न करे, स्त्रियों के साथ परिचय न करे उनसे ममता न करे, उनकी आगत-स्वागत न करे और अधिक क्या स्त्रियों से बातचीत करने में भी अत्यन्त मर्यादित रहे तथा मन को वश में कर हमेशा पापाचार से दूर रहे।

उब्बाहिज्जमाणे गामधम्मेहिं
अवि णिब्बलासए,
अवि ओमोदरियं कुज्जा,
अवि उड्ढं ठाणं ठाएज्जा,
अवि गामाणुगामं दूइज्जा,
अवि आहारं वोछिंदिज्जा,
अवि चए इत्थीसु मणं

विषयों से पीड़ित ब्रह्मचारी निर्बल—निःसत्व आहार करे, कम खाय, एक जगह खड़ा होकर कायोत्सर्ग करे, अन्य ग्राम चला जाय और अन्त में आहार तक छोड़ दे, परन्तु भूल-चूक से भी स्त्रियों के मोह में न फसे।

एस धम्मे धुवे निच्चे
सासए जिणदेसिए
सिद्धा सिज्झन्ति चाणेणं
सिज्झिस्सन्ति तहापरे

यह ब्रह्मचर्य-धर्म ध्रुव है, नित्य है, शाश्वत है और जिन भगवान द्वारा भाषित है। अतीत में इस धर्म के पालन से अनेक सिद्ध हुए (तिरे) हैं, अभी होते हैं और आगे भी होंगे।

* *
*

* * *

१—अब्रह्मचर्य के दोष

१—अब्रह्मचर्य चौथा पाप-द्वार है। यह कितना आश्चर्य है कि देवों से लेकर मनुष्य और असुर तक इस के लिए दीन—भिखारी बने हुए हैं !

यह कादे और कीचड़ की तरह फसाने वाला और पाश की तरह बंधन-रूप है। यह तप, संयम और ब्रह्मचर्य को विघ्न करने वाला, चारित्र-रूपी जीवन को नाश करने वाला और अत्यन्त प्रमाद का मूल है। यह कायर और कापुरुषों द्वारा सेवित और सत्पुरुषों द्वारा त्यागा हुआ है। स्वर्ग, नर्क और तिर्यक्—इन तीनों लोक का आधार—ससार की नींव और उसकी वृद्धि का कारण है। जरा-मरण-रोग-शोक की परम्परा वाला है। वध, बन्धन और मरण से भी इसकी चोट गहरी होती है। दर्शन—तत्त्वों में विश्वास करने और चारित्र—सद्धर्म अंगीकार करने में विघ्न करनेवाले—मोहनीय कर्म का हेतुभूत कारण है। जीव ने जिस का चिर संग किया फिर भी जिस से तृप्ति नहीं हुई—ऐसा यह चौथा आश्रवद्वार दुरन्त और दुष्फलवाला है।[1] यह अधर्म का मूल और महा दोषोंकी जन्म भूमि है।[2]

२—सर्व इन्द्रियों के विषयों के आधार अब्रह्मचर्य के सेवन से इस लोक में कीर्त्ति का नाश होता है और परलोक में नीच गति मिलती है। अब्रह्मचर्य के मोह में विह्वल प्राणी, महा मोह-रूपी तिमिस्र अंधकार वाली, घोर दु:खमय, त्रस-स्थावर, सूक्ष्म-बादर, पर्याप्त-अपर्याप्त, साधारण-प्रत्येक, अण्डज, पोतज, जरायुज, रसज, संस्वेदिम, समुच्छिंम, उद्भिज्ज, उत्पातिक, वगैरह जन्म-जरा और रोग-शोक बहुल योनियों में, जन्म लेता हुआ, पल्योपम-सागरोपम तक अनादि अनन्त चार—नरक, तिर्यंच, देव और मनुष्य—गति रूप संसार-अटवी में भ्रमण करता है।[3]

---

१ प्रश्न व्याकरण सूत्र—चतुर्थ आश्रव द्वार ; २—दशवैकालिक सूत्र ६।१७ ; ३—प्रश्न व्याकरण सूत्र—चतुर्थ आश्रव द्वार।

३—अब्रह्मचर्य का ऐसा ही लौकिक और पारलौकिक बुरा फल है। अब्रह्मचर्य के सेवन से अल्प इन्द्रिय-सुख मिलता है परन्तु बाद में वह बहुत दुःखों का हेतु होता है। यह आत्मा के लिए महा भय का कारण है। पाप-रज से भरा हुआ है। फल देने में बड़ा कर्कश है—दारुण है। सहस्रों वर्षों तक इसका फल नहीं चुकता—जीव को इसके कुफल बहुत दीर्घ काल तक भोगने पड़ते हैं।[१]

२—ब्रह्मचर्य की महिमा

४—ब्रह्मचर्य उत्तम सदाचार है। यह परम विशुद्धि है—आत्मा की महान निर्मलता है। सब भव्य—मुमुक्षु पुरुषों का जीवन है। ब्रह्मचर्य प्राणी को विश्वास-पात्र—विश्वसनीय बनाता है—ब्रह्मचारी से किसी को भय नहीं रहता। ब्रह्मचर्य तुस-रहित धान की तरह सार वस्तु है। खेद रहित है। यह जीव को कर्म से लिप्त नहीं होने देता। चित्त की स्थिरता का हेतु है। धर्मी पुरुषों का शाश्वत नियम है। तप-संयम का मूल -आदि भूत द्रव्य है। दुर्गति-पथ को रोकने वाला और सद्गति के मार्ग को प्रकाशित करनेवाला लोकोत्तम व्रत है। यह धर्म-रूपी पद्म-सरोवर की पाल है, गुण-रूपी महारथ की धुरा है, व्रत-नियम रूपी शाखाओं से फैले हुए धर्म-रूपी बड़-वृक्ष का स्कंध है और शील-रूपी महा नगर की परिधि (परकोटे) के द्वार की अर्गला—भोगल—है। रस्सियों से बंधी हुई इन्द्रध्वजा के समान अनेक गुणों से स्थिर है। एक ब्रह्मचर्य व्रत के भंग होने से सहसा सब गुण भंग हो जाते हैं, मर्दित हो जाते हैं, मथित हो जाते हैं, चूर्णित हो जाते हैं, कुसलित हो जाते हैं, पर्वत से गिरी हुई वस्तु की तरह टुकड़े २ हो जाते हैं, खण्डित हो जाते हैं, गल जाते हैं और विनष्ट हो जाते हैं।[२]

५—विनय, शील, तप, नियम आदि गुण-समूह में ब्रह्मचर्य सर्वोत्तम है। जिसने एक ब्रह्मचर्य व्रत की आराधना की है—समझना चाहिए—उसने सर्व व्रत, शील तप, विनय, संयम, समिति-गुप्ति यहाँ तक कि मुक्ति की भी आराधना की है। यह व्रत इहलोक और परलोक दोनों में यश और कीर्ति का कारण है। जब तक जीवन कायम रहे और शरीर में रक्त और मांस हो—तब तक सम्पूर्ण विशुद्धता पूर्वक निश्चय ही ब्रह्मचर्य का सेवन करना चाहिए[३]। जो विशुद्धता पूर्वक इस व्रत का सेवन करता है, उसकी गिनती मुक्त पुरुषों की श्रेणी में होती है।[४]

१—प्रश्नव्याकरण सूत्र चतुर्थ आश्रव द्वार ; २—प्रश्नव्याकरण सूत्र—चतुर्थ संवर द्वार ; ३—प्रश्नव्याकरण सूत्र—चतुर्थ संवर द्वार ; ४—सूयगडांग सूत्र—१,१५-९ ; १,२।३-२

३—ब्रह्मचर्य की स्थिरता के उपाय

६—भगवान महावीर ने ब्रह्मचर्य में समाधि—स्थिरता प्राप्त करने के दस उपाय बतलाए हैं।[1]

इन उपायों के पालन करने से संयम और संवर में दृढ़ता होती है। चित्त की चंचलता दूर होकर उसमें स्थिरता आती है और मन, वचन, काया तथा इन्द्रियों पर विजय होकर अप्रमत्त भाव से ब्रह्मचर्य की रक्षा होती है।[2]

गांव की सीमा पर रहे हुए खेतों की, पशुओं से, रक्षा करने के लिए उनके चारों ओर बाड़ें लगानी पड़ती हैं और बाड़ों के बाहर खाई खोदनी पड़ती है। इसी तरह से जहाँ ब्रह्मचारी होते हैं, वहाँ सब जगह स्त्रियाँ भी होती हैं, और इसलिए शील—ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए ये उपाय बतलाए गए हैं। इनमें से पहले नौ नियम बाड़ों की तरह है और दसवाँ उनके चारों ओर परकोटे की तरह है।

ये नियम निम्न प्रकार है :

(१) एकान्त निवास

७—ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए निरवाले-एकान्त और स्त्रियों से रहित स्थान में वास करे। अपने शयन-आसन आदि के लिए वह चाहे जिस स्थान में रहे परन्तु स्त्री, पशु और नपुंसक बसते हों उस स्थान में न बसे।[3]

जहाँ बिल्लियों का वास हो, वहाँ चूहों के बसने में सलामत—खैरियत नहीं, उसी तरह से, जिस स्थान मे स्त्रियों का वास हो, उस मकान में ब्रह्मचारी के रहने में क्षेम-कुशल नहीं है।[4]

जिस तरह कूकड़े के बच्चे के लिए बिल्ली हमेशा ही भय का कारण होती है, उसी तरह से ब्रह्मचारी के लिए स्त्री-शरीर खतरे का कारण है।[5]

जो स्थान निरन्तर मोह और कामराग को बढ़ाने वाला हो और जहाँ पर नाना प्रकार की स्त्री-कथाएँ होती हों, ऐसे स्थान में ब्रह्मचारी न रहे। इसी तरह से, जिस स्थान में रहने से, मन अस्थिरता को प्राप्त होता हो, ब्रह्मचर्य के

१,२—उत्तराध्ययन सूत्र अ० १६ गाथा १ ; ३—उत्त० अ० १६ । गाथा १ तथा श्लो० १ ;
४—उत्त० अ० ३२।१३ ; ५—द० ८।५४

सम्पूर्ण रूप में या अंश रूप में भङ्ग होने की आशंका हो और अपध्यान उत्पन्न हो, उस स्थान का ब्रह्मचारी सेवन न करे।[१]

दुश्चरित्र स्त्रियाँ किसी-न-किसी बहाने से ब्रह्मचारी के पास पहुँच कर उसे गिराने के सूक्ष्म और प्रच्छन्न उपायों को काम में लाती है।[२] वे अक्सर उसके पास आकर बैठ जाती हैं और अपने सुन्दर वस्त्र तथा गुह्याङ्गों को दिखाती हुई ब्रह्मचारी को अपनी ओर आकर्षित करती हैं।[३] उसके हृदय को मोहित करने के लिए नाना प्रकार से अर्ज विनतियाँ करती हुई मधुर-मधुर बोलती हैं तथा विषयिक बातें कर उससे मन चाहा काम करवा लेती है।[४]

जिस तरह माँस के टुकड़े फेंक कर पहले सिंह को निशंक—निर्भय कर दिया जाता है और फिर धोखे में डाल कर उसे पास में डाल लिया जाता है, उसी तरह ब्रह्मचारी को विश्वास में डाल कर दुष्ट स्त्रियाँ उसका पतन कर देती हैं। जिस तरह से रथकार रथ के पहिओं—चक्रों को शनैः-शनैः गोल बनाता है, उसी तरह स्त्रियाँ ब्रह्मचारी की मनोदशा को धीरे-धीरे अपने अनुकूल बनाती हुई उसे अपने वश में कर लेती हैं। फिर तो पास में बधे हुए मृग की तरह प्रयत्न करने पर भी वह उनके पास से नहीं छूट सकता।[५]

विष मिश्रित दूध पीने वाले मनुष्य की तरह स्त्रियों के सहवास में रहनेवाले ब्रह्मचारी को विशेष अनुताप करना पड़ता है। इसलिए पहले से ही विवेक रख कर वह स्त्रियों के साथ एक मकान में न रहे।[६]

और तो क्या, मन, वचन और काया से सम्पूर्ण संयमी और सुतपस्वी मुनि, जिन्हें सरूपवान और अलंकृत देवाङ्गनाएँ भी डिगाने में समर्थ नहीं हैं, उनके लिए भी स्त्रियादि से रहित एकान्त वास ही हितकर बतलाया गया है।[७]

(२) स्त्री-कथा वर्जन

८—ब्रह्मचारी मन को चंचल करने वाली और विषय-राग को बढ़ाने वाली

१—प्रश्नव्याकरण सूत्र—चतुर्थ संवर द्वार, प्रथम भावना ; २—सूयगडांग सूत्र १।४।१।२ ; ३—सू० १।४।१।३ ; ४—सू० १।४।१।१ ; ५—सू० १।४।१।८-९ ; ६—सू० १।४।१।१० ; ७—उत्त० ३२।१६।

स्त्री-विषयक कथाएँ न करे।[1] वह विलास, हास्य, काम और मोह उत्पन्न करने वाली कथाएँ न कहे, न सुने और न उनका चिंतन करे।[2] ऐसी कथाओं से मन की शांति का भंग होता है और केवली भगवान द्वारा भाषित धर्म से मनुष्य का पतन हो जाता है।[3] जिस तरह नींबू की बात सुनते ही मुंह में पानी आ जाता है, उसी तरह नारी सम्बन्धी कथा करने से विषय-विकार बढ़ कर परणाम अस्थिर हो जाता है—मनोबल क्षीण हो जाता है।[4]

(३) नारी-प्रसंग वर्जन

८—साधारण मनुष्य की तो बात दूर रही, मुमुक्षु, संसार-भीरु और धर्म में दृढ़ पुरुष के लिए भी इस संसार में युवान और मनोहर स्त्री जैसी दुस्तर वस्तु दूसरी नहीं है।[5] जिस तरह वैतरणी नदी का पार करना मुश्किल है, उसी तरह कायरों के लिए स्त्रियों का मोह जीतना कठिन है।[6]

स्त्रियों के प्रति मोह-भाव को जीत लेने पर अन्य आसक्तियों का पार पाना सहज हो जाता है। जो महा समुद्र तिर चुका हो उसके लिए गंगा नदी का तिरना क्या बड़ी बात है ?[7]

ब्रह्मचारी को स्त्रियों के साथ बार-बार वार्तालाप करने से तथा उनके साथ संसर्ग और समागम करने से हमेशा बचना चाहिए।[8]

पुत्री हो या पुत्र-वधू हो, धायमाता हो या दासी हो, प्रौढ़ा हो या कुमारी हो—ब्रह्मचारी किसी भी स्त्री का संसर्ग न करे।[9] अधिक क्या लंगड़ी, लूंगी, नकटी और बूची—ऐसी विकृत अंग वाली सौ वर्ष की डोकरी हो, उसके संग से भी वह बचे।[10]

जो स्त्रियों के साथ परिचय बढ़ाता है वह, समाधि—ब्रह्मचर्य-योग से भ्रष्ट

१—उत्त० १६। श्लो० २ ; २—प्रश्न० चतुर्थ संवर द्वार द्वि० भावना ; ३—आचरांग सूत्र २ ; ४—श्रीमद् भीखणजी कृत शील की नववाड़ से , ५—उत्त० ३२।१७; ६ - सूय० १।३।४-१६ ; ७—उत्त० ३२।१८ , ८—उत्त० १६। श्लो० ३ ; ९—सूय० १।४।१-१३ ; १०—दसवैकालिक सू० ८।५६ ।

हो जाता है। आत्मार्थी ब्रह्मचारी स्त्रियों के साथ एक आसन पर न बैठे।[1] जिस स्थान पर नारी बैठ चुकी हो, उस स्थान पर वह बैठे तो कम-से-कम एक मुहूर्त समय टाल कर बैठे।

जिस तरह लाख से भरा हुआ घड़ा अग्नि के संसर्ग से जल कर शीघ्र ही नष्ट हो जाता है, उसी तरह से स्त्री के सहवास से ब्रह्मचारी का ब्रह्मचर्य नाश को प्राप्त हो जाता है।[2]

उपरोक्त बात विचार कर ब्रह्मचारी अकेली स्त्री के साथ धर्मालाप तक न करे।

जो पुरुष स्त्रियों में आसक्त होता है, उसकी गिनती कुशील—भ्रष्ट पुरुषों में होती है। स्त्री-संग के भुक्त-भोगी, स्त्री की कामना से खिन्न, अनुभवी और बुद्धिमान पुरुष भी स्त्रियों के संसर्ग से भ्रष्ट होकर दुराचारियों की कोटि में आ जाते हैं। इसलिए अधिक क्या जो सुतपस्वी मुनि हो वह भी स्त्रियों के साथ संसर्ग न करे।[3]

चतुर पुरुष शुरू की लुभाने वाली विनतियों की उपेक्षा करता हुआ स्त्रियों के संग और सहवास से बचे। स्त्री के साथ भोगे हुए कामभोग महा पाप के कारण होते है।[4]

स्त्री-संग महा भय रूप है, इस विचार से आत्मा का बचाव करता हुआ ब्रह्मचारी स्त्री, पशु व नपुंसक का स्पर्श नहीं करे और न उनके साथ कोई अन्य अकृत्य करे।[5]

जो मनुष्य आगे की चिन्ता नहीं करता और केवल वर्त्तमान के सुखों को देखा करता है वह युवावस्था बीतने और मृत्यु समीप आने पर पछताता है।[6] इसलिए दूरदर्शी ब्रह्मचारी स्त्री-प्रसंग को जहरीले कांटे की तरह छोड़ दे।[7] जिस तरह कुमुद जल से निर्लिप्त रहता है, वैसे ही ब्रह्मचारी स्त्रियों से निर्लिप्त रहे।

(४) चक्षु-संयम

६—ब्रह्मचारी स्त्रियों के मनोहर रूप को मोह-भाव से न देखे। उनके अवयव, शरीर-सौन्दर्य, हास्य-विलास, मंजुल भाषण, अंग-संचालन और कटाक्षों पर

१—सूय० १।४।१—१६ ; उत्त० अ० १६। गा० १ ; २—सूय० १।४।१—२७ ; ३—सू० १।४।१—१२ ; १।४।१—२० ; ४—सूय० १।८।२—१९ ; ५—सू० १।४।२—२० ६—सूय० १।३।४—१४ ; ७—सूय० १।४।१—११।

दृष्टिपात न करे और न इनका चिन्तन करे।[1] स्त्री के रूप और शृंगार को देखने से विषय-विकार की वृद्धि होती है।[2] ब्रह्मचारी को तो चित्र में अंकित पुतली तक पर नजर नहीं डालनी चाहिए, सजीव सुसज्जित नारी की तो बात दूर रही। कदाचित् दृष्टि पड़ भी जाय, तो सूरज की किरणों से जैसे आंखों को हटा लेते हैं वैसे ही उसे अपनी दृष्टि उस पर से शीघ्र हटा लेनी चाहिए।[3]

जैसे आंखों की कच्ची कारी, सूरज के सामने देखने से, खराब हो जाती है और फलस्वरूप मनुष्य अन्धा हो जाता है वैसे ही नारी के रूप को निरखने से, ब्रह्मचारी का ब्रह्मचर्य नष्ट हो जाता है।[4]

जैसे अन्धा पुरुष, हाथ में दीपक होने पर भी, अपने मार्ग को नहीं देख सकता वैसे ही रूप का विषयी ब्रह्मचारी, विकार-विह्वल हो कर, अपने व्रत की रक्षा नहीं कर सकता।

ब्रह्मचारी, स्त्रियों को, राग पूर्वक न देखे, उनकी अभिलाषा न करे, मन मे उनका चिन्तन न करे और न उनका कीर्तन करे। ब्रह्मचर्य में लीन रहने की इच्छा करने वाले पुरुष के लिए यह नियम अत्यन्त हितकर है और उत्तम ध्यान प्राप्त करने में सहायक है।[5]

(५) श्रवण-संयम :

१०—ब्रह्मचारी स्त्री के कूजन, रोदन, गीत, हास्य, क्रंदन, विलाप और प्रेम के शब्दों को न सुने। परदे, कनात, टाट या दीवाल की ओट में रह कर ब्रह्मचारी संभोगी स्त्री-पुरुष के प्रेमालाप के शब्दों को न सुने।[6] जैसे मेघ से भरे बादलों के गर्जन को सुनकर, मोर और पपीहा, विकार ग्रस्त होकर, नाचने लगते हैं वैसे ही भोग प्रणय के शब्दों को सुनने से मन चंचल हो जाता है। इसलिए जहां कानों में ऐसे विषयोत्पादक शब्द पड़ते हों वहां ब्रह्मचारी न रहे।[7]

(६) स्मरण-संयम :

११—ब्रह्मचारी अतीत में भोगे हुए भोग और विषय-क्रिडाओं का स्मरण न करे।[8]

१—उत्त० १६।४ ; ३२।१४ ; २—दस० ८।५८, ३—दस० ८।५५ ; ४—श्रीमद् आचार्य भीखणजी रचित 'शील की नववाड़' से। ५—उत्त० ३२।१५ ; ६—उत्त० १६। श्लो० ५ ; ७—श्रीमद् आचार्य भीखणजी रचित 'शील की नववाड़' से। ८—उत्त० १६। गाथा० ६ तथा श्लो० ६।

(७) आहार-संयम :

१२—ब्रह्मचारी विषय-वासना को शीघ्र उत्तेजित करने वाले स्निग्ध और मसालेदार अन्न-पान से हमेशा दूर रहे।[1]

दूध, दही, घी आदि स्निग्ध और रस बढ़ाने वाले पदार्थों का बहुधा सेवन न करे। ऐसे पदार्थों के खानपान से वीर्य की वृद्धि होती है। जिस तरह स्वादु-फल वाले वृक्ष की ओर पक्षी दल के दल उड़ते चले आते हैं, उसी तरह वीर्य से दीप्त हुए पुरुष के आस-पास काम वासनाएँ चक्कर लगाने लगती हैं।[2]

(८) मात्रा-संयम :

१३—प्रचुर इन्धन से भरे हुए वन में लगी हुई दावाग्नि जब पवन जोर से चलती रहती है तो बुझती नहीं, उसी तरह हृष्ट-पुष्ट शरीर को यथेच्छ आहार द्वारा रस पहुंचाते रहने से विषयाग्नि नहीं बुझती। ब्रह्मचारी के लिए अति आहार जरा भी हित कर नहीं।[3]

एकान्त शय्यासन के सेवी, अल्पाहारी और जितेन्द्रिय पुरुष के चित्त को विषय-रूपी शत्रु पराभव नहीं कर सकता परन्तु औषधि से जैसे व्याधि पराजित हो जाती है वैसे ही विषय-रूपी शत्रु खुद पराजित हो जाता है।[4]

ब्रह्मचारी ठीक समय पर, मित मात्रा में और जीवन-यात्रा के लिए जितना जरूरी हो उतना ही आहार करे। वह कभी भी अति मात्रा में आहार न करे।[5]

(९) भूषा-संयम :

१४—ब्रह्मचारी विभूषा और बनाव-ठनाव को छोड़ दे। ब्रह्मचारी शरीर-शृङ्गार न करे। बनाव-ठनाव से ब्रह्मचारी स्त्रियों की कामना का विषय हो जाता है।[6] जैसे रङ्क के हाथ में रहे हुए रत्न को राज-कर्मचारी छीन लेते हैं, वैसे ही शौकीन ब्रह्मचारी को स्त्रियाँ चलित कर देती हैं और उसके ब्रह्मचर्य-रत्न को छीन कर उसे खाली-हाथ बना देती हैं।[7] शरीर-विभूषा से चिकने कर्मों का

१—उत्त० १६। श्लो० ७। २—उत्त० ३२।१०; ३—उत्त० ३२।११; ४—उत्त० ३२।१२; ५—उत्त० १६। श्लो० ८; ६—उत्त० १६।९; ७—श्रीमद् आचार्य भीखणजी रचित 'शील की नववाड़' से

बंध होता है और मनुष्य घोर और दुस्तर संसार-सागर में गोते खाने लगता है।[1] इसलिए अनेक दोष पूर्ण शरीर-विभूषा को ब्रह्मचारी सेवन नहीं करता।[2]

(१०) कामभोग-संयम :

१५—ब्रह्मचारी शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श—इन पाँच प्रकार के इन्द्रियों के विषयों का सेवन सदा के लिए छोड़ दे। देवों से लेकर समग्र लोक के दुःख इन्हीं विषयों की आसक्ति से उत्पन्न होते हैं। वीतराग, शारीरिक व मानसिक—सर्व दुःखों का, अन्त कर सकता है।[3]

जिस तरह स्वाद में मधुर लगने वाले और मनोहर किंपाक फल पचने पर आखिर प्राणों का अन्त करते हैं, उसी तरह शुरू-शुरू में अच्छे और आनन्ददायक मालूम पड़ने पर भी कामभोग परिणाम में ब्रह्मचारी के लिए घातक होते हैं।[4]

चक्षु रूप को ग्रहण करता है और रूप चक्षु का ग्राह्य-विषय है। जिस तरह रागातुर पतंग दीपक की ज्योति में पड़ कर अकाल में ही मरण पाता है उसी तरह रूपमें आसक्त ब्रह्मचारी शीघ्रही अपने ब्रह्मचर्य को खो बैठता है।

कान शब्द को ग्रहण करता है और शब्द कान का विषय है। जिस तरह संगीत में मूर्च्छित रागातुर हरिण बींधा जाकर अकाल मे ही मरण पाता है उसी तरह शब्दों में तीव्र आसक्ति रखने वाला पुरुष शीघ्र ही अपने ब्रह्मचर्य को खो बैठता है।

नाक गन्ध को ग्रहण करता है और गन्ध नाक का विषय है। जिस तरह औषधि की सुगन्ध में आसक्त रागातुर सर्प पकड़ा जाकर, अकाल में ही मारा जाता है उसी तरह से सुगन्ध में तीव्र आसक्ति रखने वाला ब्रह्मचारी शीघ्र ही अपने ब्रह्मचर्य को खो बैठता है।

जिह्वा रस को ग्रहण करती है और रस जिह्वा का विषय है। जिस तरह मांस में आसक्त रागातुर मच्छली लोहे के कांटे से भेदी जाकर अकाल में ही मारी जाती है उसी तरह रसमें तीव्र मूर्च्छा रखने वाला ब्रह्मचारी शीघ्र ही ब्रह्मचर्य को खो बैठता है।

१—दस० ६।६६ ; २—द० ६।६७ ; ३—उत्ता० १६। श्लो० १०; उत्त० ३२।१९ ;
४—उत्त० ३२।२० ;

शरीर स्पर्श का अनुभव करता है और स्पर्श शरीरका विषय है। जैसे ठंडे जल में आसक्त भैंस मगरमच्छ से पकड़ी जाकर अकाल में ही मारी जाती है उसी तरह स्पर्श में तीव्र मूर्च्छा रखने वाला ब्रह्मचारी शीघ्र ही ब्रह्मचर्य को खो बैठता है।

मन भाव को ग्रहण करता और भाव मन का विषय है। कामाभिलाषी रागातुर हाथी हथिनी के पीछे भागता हुआ कुमार्ग में पड़कर अकाल में ही मारा जाता है उसी तरह भावमें तीव्र आशक्ति रखने वाला ब्रह्मचारी शीघ्र ही ब्रह्मचर्य को खो बैठता है।[१]

४—नियमों के भंग से हानि :

१६—स्त्रियों के सहवासवाला निवास, मनोहारी कथा, स्त्री-सहवास और परिचय, स्त्रियों की इन्द्रियों का निरीक्षण, स्त्रियों के गीत, हास्य, रुदन आदि का सुनना और उनके साथ भोजन करना, स्त्रियों के साथ एकासन पर बैठना, स्निग्ध खान-पान, अति आहार, शरीर-श्रृङ्गार तथा कामभोग सेवन ये सब बातें बहुत प्रिय होती हैं और इनका त्याग करना बड़ा कठिन होता है परन्तु आत्मगवेषी ब्रह्मचारी पुरुष के लिए ये सब तालपुट विष की तरह हैं।[२]

जो उपरोक्त समाधि-स्थानों के प्रति असावधान रहता है, उसे धीरे-धीरे अपने व्रत में शंका उत्पन्न होती है, फिर विषय-भोगों की आकांक्षा—कामना उत्पन्न होती है, और फिर ब्रह्मचर्य की आवश्यकता है या नहीं ऐसा विकल्प—विचिकित्सा उत्पन्न होती है। इस प्रकार उसके ब्रह्मचर्य का नाश हो जाता है, उसके उन्माद और दूसरे बड़े रोग हो जाते हैं और अन्त में चित्त की समाधि भङ्ग होने से वह केवली-भाषित धर्म से भ्रष्ट—पतित हो जाता है।[३]

ब्रह्मचारी दुर्जय काम भोगों से सदा दूर रहे तथा ब्रह्मचर्य के लिए जो शंका-विघ्न के स्थान हों उनका वर्जन करे—उन्हें टाले।[४]

५-उपसंहार

१७—धैर्यवान और धर्म-रूपी रथ को चलाने में सारथी समान पुरुष धर्म-

---

१—उत्त० ३२—२३, २४, ३६, ३७, ४८, ५०, ६२, ६३, ७५, ७६, ८८, ८९;।
२—उत्त० १६।११,१२,१३; ३—उत्त० १६।१-१०; ४—उत्त० १६।१४

रूपी बगीचे में विहार करे। धर्म-रूपी बगीचे में अनुरक्त रह कर इन्द्रियों को दमन करता हुआ वह ब्रह्मचर्य में समाधि प्राप्त करे।[१]

देव, दानव, गंधर्व, यक्ष, राक्षस और किन्नर आदि सब उस पुरुष को नमस्कार करते हैं जो उपरोक्त रूप से दुष्कर ब्रह्मचर्य का पालन करता है।[२]

यह ब्रह्मचर्य-धर्म ध्रुव है, नित्य है, शाश्वत है और जिन भगवान द्वारा भाषित है। अतीत में इस धर्म के पालन से अनेक तिरे सिद्ध हुए हैं, अभी होते हैं और आगे भी होंगे।[३]

* *

*

२—ब्रह्मचर्य की कथाएँ :

१—मल्लि*

बिदेह की राजधानी मिथिला में कुंभ नामक राजा राज्य करता था। उसकी रानी का नाम प्रभावती था। उसके मल्लि नाम की एक पुत्री और मलदिन्न नामका एक राजकुमार था। मल्लि रूप और सौन्दर्य में असाधारण थी। पूर्ण युवावस्था आजाने पर भी उसने विवाह नहीं किया और आजीवन कौमार व्रत—ब्रह्मचर्य पालन करने का संकल्प कर लिया। राजकुमारी होने पर भी उसका रहन-सहन और खान-पान, ब्रह्मचर्य के लिए जैसा जरूरी होता है, वैसा ही सादा और सरल था।

उस समय कोशल में पडिबुद्धि, अंग में चन्द्रच्छाय, काशी में शख, कुणाल में रूप्पि, कुरू में अदीनशत्रु और पंचाल में जितशत्रु नामक राजा राज्य करते थे।

मल्लि के अपूर्व सौन्दर्य की कहानी इन राजाओं के कानों में भी पड़ी और राजकुमारी के प्रति मोहित होकर उन सब ने अपने-अपने दूत कुंभ राजा के पास भेजे और विवाह का संदेश कहलाया।

१—उत्त० १६।१५ ; २—उत्त० १६।१६ ; ३—उत्त० १६।१७

* 'भ० महावीरनो धर्म-कथाओ' (नायधम्मकहा) नामक पुस्तक के आधार पर

राजदूतों ने आकर अपने-अपने स्वामियों की मांग पेश की, परन्तु राजा कुंभ ने सब के प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया।

विवाह के लिए आए हुए प्रस्तावों की बात मल्लि के पास भी पहुँची। उसने विचार किया कि हो-न-हो ये राजा लोग क्रोध के आवेश में उसके पिता पर चढ़ाई किए बिना न रहेंगे। यह सोच कर, कामांध हुए इन राजाओं को शान्त कर सुमार्ग पर लाने के लिए, मल्लि ने, एक युक्ति सोच निकाली।

अपने महल के एक सुन्दर विशाल भवन में उसने अपनी एक मूर्ति बना कर रखवाई। यह मूर्ति सोने की बनी हुई थी। भीतर से पोली थी और सिर पर पेचदार ढक्कन से ढकी हुई थी। देखने में यह मूर्ति इतनी सुन्दर थी मानो साक्षात् मल्लि ही आकर खड़ी हो।

राजकुमारी रोज-रोज इस मूर्त्ति के पेट मे सुगन्धित खाद्य पदार्थ डालने लगी। ऐसा करते-करते जब यह मूर्ति भीतर से सम्पूर्ण भर गई तो मल्लि ने उसे ढक्कन से मजबूती के साथ ढक दिया।

इधर राजदूत अपने-अपने स्वामियों के पास वापिस आए और राजा कुंभ से मिले हुए निराशापूर्ण उत्तर को कह सुनाया। उत्तर सुन कर वे बहुत कुपित हुए और सबने राजा कुंभ पर चढ़ाई करने का विचार ठान लिया। यह जान कर राजा कुंभ ने भी युद्ध की तैयारी शुरू कर दी। थोड़े दिनों में ही उभय पक्ष में भयङ्कर युद्ध छिड गया। परन्तु कुंभ अकेला ही था, इसलिए पूरा मुकाबिला नहीं कर सकता था, फिर भी जरा भी हताश न होते हुए उसने युद्ध जारी रक्खा। वह रात-दिन इस चिन्ता में रहने लगा कि शत्रुओं पर विजय कैसे मिले।

उस ओर नर-संहारकारी इस महा भयङ्कर युद्ध को देखकर मल्लि ने अपने पिता से विनति की "मेरे लिए इस खूंखार लड़ाई को बढ़ाने की जरूरत नहीं है। अगर आप एक बार इन सब राजाओं को मेरे पास आने दें तो मैं उन्हें समझा कर निश्चय ही शान्ति स्थापित करवा दूँ।"

राजा कुंभ ने अपने दूतों के द्वारा मल्लि का सन्देश राजाओं के पास भेज दिया। यह सन्देश मिलते ही राजाओं ने संतुष्ट होकर अपनी-अपनी सेनाओं को रणक्षेत्र से हटा लिया। राजाओं के आने पर, जिस कमरे में मल्लि की सुवर्ण मूर्ति धरी हुई थी, उसी में, उनको अलग २ बिठाया गया। राजाओं ने इस मूर्ति को ही साक्षात् मल्लि समझा और उसके सौन्दर्य को देख कर और भी अधिक मोहित हो गए, यहाँ तक कि बाद में वस्त्राभूषणों से सुसज्जित होकर राजकुमारी

मल्लि जब उस कमरे में आई तभी उनको होश हुआ कि यह मल्लि नहीं परन्तु उसकी मूर्ति मात्र है। वहाँ आकर राजकुमारी मल्लि ने बैठने के पहले मूर्ति के ढक्कन को हटा दिया। ढक्कन दूर करते ही मूर्ति के भीतर से निकलती हुई तीव्र दुर्गंध से समस्त कमरा एकदम भर गया। राजा लोग घबड़ा उठे और सब ने अपने २ नाक बंद कर लिए।

राजाओं को ऐसा करते देख कर मल्लि नम्र-भाव से बोली :

"हे राजाओ! तुम लोगों ने अपने नाक क्यों ढक लिए हैं? जिस मूर्ति के सौन्दर्य को देख कर तुम लोग मुग्ध हो गए थे उसी मूर्ति में से यह दुर्गन्ध निकल रही है। मेरा यह सुन्दर दिखाई देने वाला शरीर भी इसी तरह लोही, रुधिर, थूक, मूत्र और विष्टा आदि अनेक घृणोत्पादक वस्तुओं से भरा पड़ा है। शरीर में जाने वाली अच्छी-से-अच्छी सुगन्ध वाली और स्वादिष्ट वस्तुएँ भी दुर्गंध युक्त विष्टा बन कर बाहर निकलती है। तब फिर इस दुर्गंध से भरे हुए और विष्टा के भण्डार रूप इस शरीर के बाह्य सौन्दर्य पर कौन विवेकी पुरुष मुग्ध होगा?"

मल्लि की इस मार्मिक बात को सुन कर सब-के-सब राजा लज्जित हुए और अधोगति के मार्ग से बचाने वाली मल्लि का आभार मानते हुए कहने लगे—"हे देवानुप्रिय! तू जो कहती है वह बिलकुल ठीक है। हमलोग अपनी भूल के कारण अत्यन्त पछता रहे हैं।"

इसके बाद मल्लि ने फिर उनसे कहा : "हे राजाओ! मनुष्य के काम-सुख ऐसे दुर्गंधयुक्त शरीर पर ही अवलम्बित है। शरीर का यह बाहरी सौन्दर्य भी स्थायी नहीं है। जब यह शरीर जरा से अभिभूत होता है तब उसकी कांति बिगड़ जाती है, चमड़ी निस्तेज होकर ढीली पड़ जाती है, मुख से लार टपकने लगती है और सारा शरीर थरथर कांपने लगता है। हे देवानुप्रियो! ऐसे शरीर से उत्पन्न होने वाले काम-सुखों में कौन आसक्ति रखेगा और कौन उनमें मोहित होगा?"

"हे राजाओ! मुझे ऐसे काम-सुखों में जरा भी आसक्ति नहीं है। इन सब सुखों को त्याग कर मैं दीक्षा लेना चाहती हूँ। आजीवन ब्रह्मचारिणी रह कर, संयम पालन द्वारा, चित्त में रही हुई काम-क्रोध-मोह आदि की असद्-वृत्तियों को निर्मूल करने का मैंने निश्चय कर लिया है। इस सम्बन्ध में तुम लोगों का क्या विचार है सो मुझे बताओ।"

यह बात सुनकर राजाओं ने बहुत नम्र भाव से उत्तर दिया—"हे महानुभाव! तुम्हारा कहना ठीक है। हमलोग भी तुम्हारी ही तरह काम-सुख छोड़ कर प्रव्रज्या लेने के लिए तैयार हैं।"

मल्लि ने उनके विचारों की सराहना की और उन्हें एक बार अपनी-अपनी राजधानी में जाकर, अपने २ पुत्रों को राज्यभार सौंप कर तथा दीक्षा के लिए उनकी अनुमति लेकर वापिस आने के लिए कहा।

यह निश्चय हो जाने पर मल्लि सब राजाओं को लेकर अपने पिता के पास आई। वहाँ पर सब राजाओं ने अपने अपराध के लिए कुंभ राजा से क्षमा मांगी। कुंभ राजा ने भी उनका यथेष्ट सत्कार किया और सब को अपनी-अपनी राजधानी की ओर विदा किया।

राजाओं के चले जाने के बाद मल्लि ने प्रव्रज्या ली। राजकुमारी होने पर भी वह ग्रामोग्राम विहार करने लगी और भिक्षा में मिले हुए लूखेसूखे अन्न द्वारा अपना निर्वाह करने लगी। मल्लि की इस दिन चर्चा को देख कर दूसरी अनेक स्त्रियों ने भी उसके पास दीक्षा लेकर साधु मार्ग अंगीकार किया।

वे सब राजा लोग भी अपनी २ राजधानी में जाकर अपने पुत्रों को राज्यभार सौंप कर वापिस मल्लि के पास आए और प्रव्रजित हुए।

मल्लि तीर्थंकर हुई और प्राणियों के उत्कर्ष के लिए अधिकाधिक प्रयत्न करने लगी। उपरोक्त ६ राजा भी उसके आजीवन सहचारी रहे।

इस प्रकार मगध देश में विहार करती हुई मल्लि ने अपना अन्तिम जीवन बिहार में आए हुए समेत पर्वत पर बिताया और अजरामरता का मार्ग साधा।

मल्लि का जीवन विकास की पराकाष्ठा पर पहुँचे हुए स्त्री-जीवन का एक अनुपम चित्र है।

२—राजिमती*

मिथिला नगरी में उग्रसेन नामक एक उग्रवंशीय राजा राज्य करते थे। इनके धारिणी नामकी राणी थी। इनके एक पुत्र था, जिसका नाम कंस था और एक पुत्री थी, जिसका नाम राजिमती था। राजिमती अत्यन्त सुशील, सुन्दर और सर्व लक्षणों से सम्पन्न राजकन्या थी। उसकी कान्ति विद्युत की तरह देदीप्यमान थी।

उस समय शौर्यपुर नामक नगर में वसुदेव समुद्रविजय वगैरह दस दशार्ह (यादव) भाई रहते थे। सब से छोटे वसुदेव के रोहिणी और देवकी नामक दो राणियाँ थीं। प्रत्येक राणी के एक-एक राजकुमार था। कुमारों के नाम क्रमशः राम (बलभद्र) और केशव (कृष्ण) थे।

राजा समुद्रविजय की पत्नि का नाम शिवा था। शिवा की कूख से एक महा भाग्यवान और यशस्वी पुत्र का जन्म हुआ। इसका नाम अरिष्टनेमि रक्खा गया।

अरिष्टनेमि जब काल पाकर युवा हुए तो इनके लिए केशव (कृष्ण) ने राजि-मती की मांग का प्रस्ताव राजा उग्रसेन के पास भेजा।

अरिष्टनेमि शौर्य-वीर्य आदि सब गुणों से सम्पन्न थे। उनका स्वर बहुत सुन्दर था। उनका शरीर सर्व शुभ लक्षण और चिह्नों से युक्त था। शरीर सौष्ठव और आकृति उत्तम कोटि के थे। उनका वर्ण श्याम था और पेट मछली के आकारका-सा सुन्दर था।

ऐसे सर्व गुण सम्पन्न राजकुमार के लिए राजमिती की मांग को सुन कर राजा उग्रसेन के हर्ष का पारावार न रहा। उन्होंने कृष्ण को कहला भेजा "यदि अरिष्टनेमि विवाह के लिए मेरे घर पर पधारें, तो राजमिती का पाणिग्रहण उनके साथ कर सकता हूँ।"

कृष्ण ने यह बात मंजूर की और विवाह की तैयारियाँ होने लगीं।

नियत दिन आने पर कुमार अरिष्टनेमि को उत्तम औषधियों से स्नान कराया गया। अनेक कौतुक और मांगलिक कार्य किए गए। उत्तम वस्त्राभूषणों से

---

* 'उत्तराध्ययन सूत्र' अ० २२ के आधार पर

उन्हें सुसज्जित किया गया। वासुदेव के सब-से-बड़े गन्धहस्ती पर उनको बिठाया गया। उनके शिर पर उत्तम छत्र शोभित था। दोनों ओर चंवर डोलाए जा रहे थे। यादव वंशी क्षत्रियों से वे घिरे हुए थे। हाथी, घोड़े, रथ और पायपैदलों की चतुरंगिणी सेना उनके साथ थी। भिन्न-भिन्न वाजिन्त्रों के दिव्य और गगन स्पर्शी शब्दों से आकाश गुंजायमान हो रहा था।

इस प्रकार सर्व प्रकार की ऋद्धि और सिद्धि के साथ यादव-कुलभूषण अरिष्टनेमि अपने भवन से अग्रसर हुए।

अभी बरात राजा उग्रसेन के यहाँ नहीं पहुंची थी कि रास्ते में कुमार अरिष्टनेमि ने पींजरों और बाड़ों में भरे हुए और भय से कांपते हुए दुःखित प्राणियों को देखा। यह देख कर उन्होंने अपने सारथि से पूछा : "सुख के कामी इन प्राणियों को इन बाड़ों और पींजरों में क्यों रोक रक्खा है ?"

इस पर सारथी ने जवाब दिया : "ये पशु बड़े भाग्यशाली हैं, आपके विवाहोत्सव में आए हुए बराती लोगों की दावत के लिए ये हैं।"

सारथी के मुख से इस हिंसापूर्ण प्रयोजन की बात सुन कर जीवों के प्रति दयावृत्ति—अनुकम्पा रखने वाले महामना अरिष्टनेमि सोचने लगे :

"यदि मेरे ही कारण से ये सब पशु मारे जांय तो यह मेरे लिए इस लोक या परलोक में कल्याणकारी नहीं हो सकता।"

यह विचार कर यशस्वी नेमिनाथ ने अपने कान के कुण्डल, कण्ठ-सूत्र और सर्व आभूषण उतार डाले और सारथी को सम्हला दिए और वहीं से वापिस द्वारिका को लौट आए। द्वारिका से वे रैवतक पर्वत पर गए और वहाँ एक उद्यान में अपने ही हाथ से अपने केशों को लोच कर—उपाड़ कर उन्होंने साधु प्रव्रज्या अंगीकार की।

उस समय वासुदेव ने प्रसन्न होकर उन्हें आशीर्वाद दिया "हे दमेश्वर! आप अपने इच्छित मनोरथ को शीघ्र पावें, तथा ज्ञान, दर्शन, चारित्र, क्षमा और निर्लोभता द्वारा अपनी उन्नति करें।"

इसके बाद राम, केशव तथा इतर यादव और नगरजन अरिष्टनेमि को वंदन कर, वापिस द्वारिका आए।

इधर जब राजकन्या राजिमती को यह मालूम हुआ कि अरिष्टनेमि ने एकाएक दीक्षा ले ली है तो उसकी सारी हंसी और खुशी जाती रही और वह शोकविह्वल हो उठी। माता-पिता ने उसे बहुत समझाया और किसी अन्य योग्य

वर से विवाह करने का आश्वासन दिया परन्तु राजिमती इससे सहमत न हुई। उसने विचार किया "उन्होंने (अरिष्टनेमि ने) मुझे त्याग दिया—युवा होने पर भी मेरे मेरे प्रति जरा भी मोह नहीं किया! धन्य है उनको! मेरे जीवन को धिक्कार है कि मैं अब भी उनके प्रति मोह रखती हूं! अब मुझे इस संसार में रह कर क्या करना है? मेरे लिए भी यही श्रेयस्कर है कि मैं दीक्षा ले लूँ"।

ऐसा दृढ़ विचार कर राजिमती ने कांगसी—कंघी से संवारे हुए अपने भंवर के से काले केशों को उपाड़ डाला। सर्व इन्द्रियों को जीत कर, रूंड मुंड हो दीक्षा के लिए तैयार हुई राजिमती को कृष्ण ने आशीर्वाद दिया: "हे कन्या! इस भयंकर संसार-सागर से तू शीघ्र पार हो"। राजिमती ने प्रव्रज्या ली।

दीक्षा लेने के बाद राजिमती एक बार रैवतक पर्वत की ओर जा रही थी। राह में मूसलधार वर्षा होने से राजिमती के वस्त्र भींग गए और उसने पास ही की एक अन्धेरी गुफा में आश्रय लिया। वहाँ एकान्त समझ कर राजिमती ने अपने समस्त वस्त्र उतार डाले और सूखने के लिए फैला दिए।

समुद्रविजय के पुत्र और अरिष्टनेमि के बड़े भाई रथनेमि प्रव्रजित होकर उसी गुफा में ध्यान कर रहे थे। राजिमती को सम्पूर्ण नग्न अवस्था में देख कर उनका मन चलित हो गया। इतने में एकाएक राजिमती की भी दृष्टि उन पर पड़ी। उन्हें देखते ही राजिमती सहमी। वह भयभीत होकर कांपने लगी और अपनी बाहुओं से अपने अंगों को गोपन करती हुई जमीन पर बैठ गई।

राजिमती को भयभीत देख कर काम विह्वल रथनेमि बोले: "हे सुरूपे! हे चारुभाषिणी! मैं रथनेमि हूँ। हे सुतनु! तू मुझे अंगीकार कर। तुझे जरा भी संकोच करने की जरूरत नहीं। आओ! हमलोग भोग भोगें। यह मनुष्य-भव बार-बार दुर्लभ है। भोग भोगने के पश्चात् हमलोग फिर जिन-मार्ग ग्रहण करेंगे"।

राजिमती ने देखा कि रथनेमि का मनोबल टूट गया है और वे वासना से हार चुके हैं, तो भी उसने हिम्मत नहीं हारी और अपने बचाव का रास्ता करने लगी। संयम और व्रतों में दृढ़ होती हुई तथा अपने जाति, शील, और कुल की लज्जा रखती हुई वह अरिष्टनेमि से बोली "भले ही तू रूप में वैश्रमण सदृश हो, भोग-लीला में नल कुवेर हो या साक्षात् इन्द्र हो तो भी मैं तुम्हारी इच्छा नहीं करती"।

"अंगधन कुल में उत्पन्न हुए सर्प झलझलती अग्नि में जल कर मरना पसंद करते हैं परन्तु वमन किए हुए विष को वापिस पीने की इच्छा नहीं करते।"

"हे कामी ! वमन की हुई वस्तु को पीकर तू जीवित रहना चाहता है ! इससे तो तुम्हारा मर जाना अच्छा है। धिक्कार है तुम्हारे नाम को !"

"मैं भोगराज (उग्रसेन) की पुत्री हूँ और तू अंधकवृष्णि (समुद्र विजय) का पुत्र है। हमलोगों को गन्धन कुल के सर्प की तरह नहीं होना चाहिए। अपने उत्तम कुल की ओर ध्यान देकर संयम में दृढ़ रहना चाहिए।"

"अगर स्त्रियों को देख-देख कर तू इस तरह प्रेम-राग किया करेगा तो हवा से हिलते हुए हाड वृक्ष की तरह चित्त-समाधि को खो बैठेगा।"

"जैसे गवाल गायों को चराने पर भी उनका मालिक नहीं हो जाता और न भण्डारी धन की रक्षा करने से उसका मालिक होता है वैसे ही तू केवल वेष की रक्षा करने से साधुत्व का अधिकारी नहीं हो सकेगा। इसलिए तू संभल और संयम में स्थिर हो।"

साध्वी राजिमती के ये मर्मस्पर्शी शब्द सुन कर, जैसे अंकुश से हाथी रास्ते पर आ जाता है वैसे ही, अरिष्टनेमि का मन स्थिर हो गया।

अरिष्टनेमि मन, वचन और काया से सुसंयमी और जितेन्द्रिय बने और व्रतों की रक्षा करते हुए जीवन पर्यंत शुद्ध श्रमणत्व का पालन करते रहे।

इस प्रकार जीवन बिताते हुए दोनों ने उग्र तप किया और दोनों केवली बने और सर्व कर्मों का अन्त कर उत्तम सिद्धगति को पहुँचे।

विचक्षण तत्वज्ञ और कुशल पुरुष ऐसा ही करते हैं। पुरुष श्रेष्ठ अरिष्टनेमि विषयों से दूर हुए वैसे ही वे भी इनसे सदा दूर रहते हैं।

३—श्राविका कोशा गणिका*

—१—

पाटलीपुत्र नगर में नन्द नामक राजा के शकडाल नामक प्रधान मंत्री था। उसकी भार्या का नाम लांछनदेवी था। इससे उसके दो पुत्र हुए। बड़े का नाम स्थूलिभद्र था और छोटे का नाम श्रीयक। श्रीयक नंद राजा के यहाँ अङ्ग-रक्षक के रूप में काम करता था। वह राजा का अत्यन्त विश्वासपात्र था। स्थूलिभद्र बड़ा बुद्धिशाली था किन्तु वह कोशा नाम की एक गणिका के प्रेम में फस गया। यहाँ तक कि अपने घर को छोड कर वह उस गणिका के घर में ही रहने लगा। इस प्रकार प्रायः बारह वर्ष निकल गए। स्थूलिभद्र ने गणिका के सहवास में प्रचुर धन खोया।

घटनावश राजा के कोप के कारण शकडाल मन्त्री मार डाला गया। राजा नंद ने मंत्री-पद के भार-ग्रहण के लिए स्थूलिभद्र को बुला भेजा। जब उसने आकर देखा कि उसका पिता मंत्री शकडाल मारा गया। तो वह बड़ा खिन्न हुआ। वह सोचने लगा—"मैं कितना अभागा हूँ कि वैश्या के मोह के कारण मुझे पिता की मृत्यु की घटना तक का पता नहीं चला! उनकी सेवा शुश्रूषा करना तो दूर रहा, मैं अन्त समय में उनके दर्शन तक नहीं कर सका। धिक्कार है मेरे जीवन को!"। इस प्रकार शोक करते-करते स्थूलिभद्र का हृदय संसार से उदासीन हो गया। मंत्री-पद स्वीकार न कर, वह संभूतिविजय नामक आचार्य के पास गया और मुनित्व धारण कर लिया।

कोशा गणिका के पास जब यह खबर पहुँची तो उसका हृदय दुःख से चूर-चूर होगया, परन्तु अब उसके लिए धीरज के सिवा कोई दूसरा चारा नहीं था।

एक बार वर्षा काल के नज़दीक आने पर शिष्य आचार्य संभूति के पास आकर चातुर्मास की आज्ञा मांगने लगे। उस समय एक मुनि नेसिंह की गुफा के द्वार पर उपवास करते हुए चौमासा बिताने का निश्चय किया। दूसरे मुनि ने

---

* 'उपदेशमाला' तथा 'योगशास्त्र' के आधार पर

दृष्टि-विष सर्प के बिल के पास चौमासा करने का नियम किया। तीसरे मुनिने कुँए की परण पर कायोत्सर्ग ध्यान में चातुर्मास व्यतीत करने का नियम किया। जब मुनि स्थूलिभद्र के आज्ञा लेने का अवसर आया तो उन्होंने नाना कामोद्दीपक चित्रों से चित्रित, अपनी पूर्व परिचिता सुन्दरी-नायिका कोशा गणिका की चित्रशाला में षट् रस युक्त भोजन करते हुए चातुर्मास करने की आज्ञा मांगी। आचार्य ने आज्ञा प्रदान की। सब साधुओं ने अपने-अपने चातुर्मास के स्थान की ओर बिहार किया। मुनि स्थूलिभद्र भी कोशा गणिका के घर पहुँचे।

कोशा गणिका का स्थूलिभद्र के प्रति आन्तरिक प्रेम था इसलिए दीर्घकाल बीत जाने पर भी वह उन्हें न भुला सकी थी। उनके वियोग से वह जर्जरित हो गई थी। चिरकाल के बाद उनको वापिस उपस्थित हुए देख कर वह रोम-रोम से हर्षित हो रही थी। मुनि स्थूलिभद्र कोशा की आज्ञा लेकर उसकी चित्रशाला में चातुर्मास के लिए ठहरे। यद्यपि उस समय स्थूलिभद्र मुनि वेष में थे तोभी गणिका को बड़ी आशा बंधी। उसने सोचा मेरे यहां चातुर्मास करने का और क्या अभिप्राय हो सकता है ? इसका कारण उनके हृदय में मेरे प्रति रहा हुआ सूक्ष्म मोह-भाव ही है। यह सोच कर वह मुनि को पूर्व क्रीड़ाओं का स्मरण कराने लगी। वह नाना प्रकार के शृंगार कर तथा उत्तम से-उत्तम वस्त्राभूषण पहन कर उनको अपनी ओर आकर्षित करने का प्रयास करती। परन्तु गणिका की नाना प्रकार की चेष्टा से भी मुनि स्थूलिभद्र जरा भी चलित नहीं हुए। वे सदा धर्म ध्यान में लीन रहते।

इधर में कोशा उन्हें विचलित करना चाहती और उधर मुनिवर स्थूलिभद्र उसे प्रतिबोधित करना चाहते। जब-जब कोशा उनके पास जाती वे उसे विविध उपदेश देते :—

"विषय सुख चाहे कितने ही दीर्घ समय तक के लिए भोगने को मिल जांय तो भी आखिर एक-न-एक दिन उनका अन्त अवश्य होता है। ऐसे नाशवान विषयों को मनुष्य खुद क्यों नहीं छोड़ता ? विषय जब अपने आप छूटते हैं, तो मन को अत्यन्त परिताप होता है, परन्तु यदि उनको स्वयं ही प्रसन्नता पूर्वक त्याग दिया जाता है, तो मोक्ष-सुख की प्राप्ति होती है।"

"धर्म-कार्य से बढ़ कर कोई दूसरा श्रेय कार्य नहीं है। प्राणी की हिंसा से बढ़ कर कोई दूसरा कार्य नहीं, प्रेम-राग—मोह से बढ़ कर कोई बन्धन नहीं और बोधि (सम्यक्त्व) के लाभ से विशेष कोई लाभ नहीं है।"

मुनि स्थूलिभद्र के उपदेश से कोशा के हृदय में अन्तर प्रकाश होने लगा। उनकी अद्भुत जितेन्द्रियता को देख कर उसका हृदय पवित्र भावनाओं से भर गया। अपने भोगासक्त जीवन के प्रति उसे बड़ी घृणा हुई और वह महान अनुताप करने लगी। मुनि से उसने विनय पूर्वक क्षमा मांगी तथा सम्यक्त्व और बारह व्रत अंगीकार कर वह श्राविका हुई। उसने नियम किया :

"राजा के हुक्म से आए हुए पुरुष के सिवा मैं अन्य किसी पुरुष से शरीर सम्बन्ध नहीं करूँगी"।

इस प्रकार व्रत और प्रत्याख्यान ग्रहण कर गणिका कोशा उत्तम श्राविका जीवन बिताने लगी।

चातुर्मास समाप्त होने पर मुनिवर स्थूलिभद्र ने वहाँ से विहार किया।

समय पाकर राजा ने कोशा के पास एक रथिक को भेजा। वह बाण संधान विद्या में बड़ा निपुण था। अपनी कुशलता दिखलाने के लिए उसने झरोखे में बैठे-बैठे ही बाण चलाने शुरू किये और उनका एक ऐसा तांता लगा दिया कि उनके सहारे से उसने दूर के आम्रवृक्ष की आम सहित डालियों को तोड़ कर उसे कोशा के घर तक खींच लिया।

इधर कोशा ने भी अपनी कला दिखलाने के लिए गृह आंगन में सरसों का ढेर करवाया, उस पर एक सूई टिकाई और उस पर पुष्प रख कर नयनाभिराम नृत्य करना शुरू किया। नृत्य को देखकर रथिक चकित हो गया। उसने प्रशंसा करते हुए कोशा से कहा : "तुमने बड़ा अनोखा काम किया है"।

यह सुन कर कोशा बोली! "न तो बाण विद्या से दूर बैठे आम की लूंब तोड़ लाना ही कोई अनोखा काम है और न सरसों के ढेर पर सूई रख कर और उस पर फूल रख कर नाचना ही। वास्तव में अनोखा काम तो वह है जो महा श्रमण स्थूलिभद्र मुनि ने किया"।

"वे प्रमदा—रूपी बन में निशंक विहार करते रहे, फिर भी मोह प्राप्त होकर भटके नहीं"।

"अग्नि में प्रवेश करने पर भी जिनके आँच नहीं लगी, खड्ग की धार पर चलने पर भी जो छिद नहीं गए, काले नाग के बिल के पास वास करने पर भी जो काटे नहीं गए और काल के घर में वास करने पर भी जिनके दाग नहीं लगा ऐसे, असिधारा व्रत को निभाने वाले, नर पुंगव स्थूलिभद्र तो एक ही हैं। धन्य है उन्हें!"

"भोग के सभी अनुकूल साधन उन्हें प्राप्त थे। पूर्व परिचित वेश्या और वह भी अनुकूल चलने वाली, षट् रस युक्त भोजन, सुन्दर महल, युवावस्था, मनोहर शरीर और वर्षा ॠतु – ये सब योग होने पर भी जिनने असीम मनोबल का परिचय देते हुए काम राग को पूर्ण रूप से जीता और भोग रूपी कीचड़ में फसी हुई मुझ जैसी गणिका को अपने उच्चादर्श और उपदेश के प्रभाव से प्रतिबोधित किया, उन कुशल महान आत्मा स्थूलिभद्र मुनि को मैं नमस्कार करती हूँ"।

"कामदेव! तू ने नंदीषेण, रथनेमि, और आर्द्रकुमार मुनीश्वर की तरह ही स्थूलिभद्र मुनि को समझा होगा और सोचा होगा कि ये भी उनके ही साथी होंगे, परन्तु तू ने यह नहीं जाना कि ये मुनीश्वर तो रणांगन में तुझे परास्त कर नेमिनाथ, जंबु मुनि और सुदर्शन सेठ की श्रेणी में आसीन होंगे"।

"हम तो भगवान नेमिनाथ से भी बढ़ कर योद्धा मुनि स्थूलिभद्र को मानते हैं। भगवान नेमिनाथ ने तो गिरनार दुर्ग का आश्रय लेकर मोह को जीता परन्तु इन्द्रियों पर पूर्ण संयम रखने वाले स्थूलिभद्र मुनि ने तो साक्षात् मोह के घर में प्रवेश कर उसको जीता।"

"पर्वत पर, गुफा में, वन में या इसी प्रकार अन्य किसी एकान्त स्थान में रह कर इन्द्रियों को वश में करने वाले हजारों हैं परन्तु अत्यन्त विलास पूर्ण भवन में लावण्यवती युवती के समीप में रह कर इन्द्रियों को वश में रखने वाले तो शकडाल नंदन स्थूलिभद्र एक ही हुए।"

इस प्रकार स्तुति कर कोशा ने स्थूलिभद्र मुनि की सारी कथा रथिक को सुनाई।

स्तुति वचनों से रथिक को प्रतिबोध प्राप्त हुआ और स्थूलिभद्र के पास जा उसने मुनित्व धारण किया।

—२—

वर्षा ॠतु समाप्त होने पर चातुर्मास के लिए गए हुए साधु वापिस लौटे। आचार्य संभूति ने प्रत्येक शिष्य का यथोचित शब्दों में अभिवादन किया और कठिन काम पूरा कर आने के लिए बधाई दी। बाद में स्थूलिभद्र भी आए। जब उन्होंने प्रवेश किया तो आचार्य उनके स्वागत के लिए खड़े हो गए और "कठिन-से-कठिन करनी—कार्य करने वाले' तथा 'महात्मा' आदि अत्यन्त प्रशंसा सूचक सम्बोधनों से उनका अभिवादन किया। यह देख कर सिंह-गुफा वासी मुनि के चित्त में ईर्ष्या का संचार हुआ। वह विचारने लगा—"वैश्या के यहाँ षट् रस खाकर रहना इतना क्या कठिन है कि स्थूलिभद्र का ऐसा अनन्य सन्मान"।

देखते-देखते दूसरा चातुर्मास आ गया। जिस साधु ने गत चातुर्मास के अवसर पर सिंह की गुफा के सामने तपस्या करने का नियम लिया था, उसने कोशा के यहाँ चातुर्मास करने की इच्छा प्रगट की। आचार्य वास्तविक कठिनाई को समझते थे, इसलिए उन्होंने अपनी ओर से अनुमति न दी। परन्तु शिष्य के अत्यन्त आग्रह को देख कर, शेष तक सुफल की आशा से, बाधा भी न दी। मुनि विहार कर ग्रामानुग्राम विचरते हुए पाटलिपुत्र नगर में पहुंचा एव कोशा से यथानियम आज्ञा प्राप्त कर उसकी चित्रशाला में ठहरा।

मुनि अपने को सम्पूर्ण जितेन्द्रिय समझता था। अपने मनोबल पर उसे जितना भरोसा चाहिए था उससे अधिक भरोसा था। वह अपने को अजेय समझता था परन्तु कोशा के स्वाभाविक शरीर सौन्दर्य को देख कर वह पहली ही रात्रि में विषय-विह्वल हो गया और कोशा से विषय-भोग की प्रार्थना करने लगा।

प्रतिबोध प्राप्त श्राविका कोशा ने क्षण भर में अपना कर्त्तव्य निश्चय कर लिया। उसने कहा—"यदि मुझे नेपाल के राजा के यहाँ से रत्न-कम्बल लाकर दे सकें तो मैं आपको अवश्य अगीकार कर सकती हूँ"।

साधु विषय-वासना मे अत्यन्त आसक्त हो रहा था। उसे चातुर्मास तक का ध्यान न रहा। वह उसी समय विहार कर अनेक कठिनाइयों को झेलता हुआ नेपाल पहुँचा और बड़े कष्ट से रत्न-कंबल प्राप्त कर कोशा के पास लौटा। मुनि ने बड़ी व्यग्रता और प्र म के साथ कम्बल कोशा को भेंट की।

कोशा ने बड़े प्रेम और हर्ष के साथ उसे ग्रहण किया। मुनि के हिम्मत की बड़ी प्रशंसा की और रत्न-कम्बल को बहुत सराहनीय बतलाया। ऐसा करने के बाद कोशा ने मुनि के देखते-देखते ही उस कम्बल से अपने पैर पोंछ कर उसी समय उसे गन्दे नाले मे फेंक दिया।

यह सब देख कर मुनि को बड़ा आश्चर्य हुआ। वह बोला—"इतनी मेहनत से प्राप्त कर लाई हुई इस बहु कीमती रत्न-कम्बल को पैर पोंछ कर नाले में फेंकते हुए क्या तुम्हें जरा भी विचार नहीं आया ?"

कोशा ने गंभीर स्वर में उत्तर दिया : "हे मुनि ! इस रत्न-कम्बल को गँदे नाले में फेंक देने से आपको इतना कष्ट हुआ परन्तु आप तो अनुपम चारित्र-रत्न को गँवा कर अपनी आत्मा को नर्क में फेंक रहे हैं—क्या इसका भी आपको फिक्र है ? आप जितनी बड़ी गलती करने जा रहे हैं उतनी तो मैंने नहीं की है"।

"श्रेष्ठव्रत—ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करना पर्वत के भार को वहन करना है। उसे वहन करने में अत्यन्त उद्यमी मुनिभी युवतिजन के संसर्ग से द्रव्य और भाव दोनों प्रकार से यतित्व से भ्रष्ट होते हैं।"

"चाहे कोई कायोत्सर्ग धारी हो, चाहे कोई मौनी हो, चाहे कोई मुण्डित-मस्तक वाला हो, चाहे कोई वलकल की छाल के वस्त्र पहनने वाला हो अथवा चाहे कोई अनेक प्रकार के तप करने वाला हो – यदि वह मैथुन की प्रार्थना–उसकी कामना करने वाला है, तो चाहे वह ब्रह्मा ही क्यों न हो वह मुझे रुचिकर-प्रिय नहीं है।"

"जो अकुलीन* के संसर्गरूप आपदा में पडने पर भी और स्त्री के आमन्त्रित करने पर भी, अकार्य-कुकृत्य की ओर नहीं बढ़ता उसी का पढ़ना, गुनना, जानना और आत्म-स्वरूप का चिन्तन करना प्रमाण समझना चाहिए।"

"वही पुरुष धन्य है, वही पुरुष साधु है, वही पुरुष नमस्कार-योग्य है जो कि अकार्य से निवृत है और असिधार सदृश—खड्ग की धार पर चलने जैसे कठिन व्रत—चतुर्थव्रत का स्थूलिभद्र मुनि की तरह धीरता पूर्वक पालन करता है।"

कोशा की इन सारगर्भित बातों को सुन कर मुनि की आँखें खुलीं। तुमुल अंधकार में आलोक हुआ। कोशा के प्रति मुनि का हृदय कृतज्ञता से भर आया। वह बोला :—"कोशा तू धन्य है। तू ने मुझे भवकूप से बचा लिया। अब मैं पाप से आत्मा को हटाता हूँ। तुम से मैं क्षमा चाहता हूँ।"

कोशा बोली : "मुनि! मैंने यह सब आपको संयम में स्थिर करने के लिए ही किया है। मैं श्राविका हूँ। हे मुनि! अब आचार्य के पास शीघ्र जाकर अपने दुष्कृत्य का प्रायश्चित अंगीकार करें और भविष्य में गुणवान के प्रति ईर्ष्या-भाव न रखें।"

मुनि आचार्य के पास लौटे। अवज्ञा के लिए क्षमा-याचना की। अपने दुष्कृत्य की निन्दा करते हुए प्रायश्चित लेकर शुद्ध हुए।

कोशा गणिका होकर भी उत्तम श्राविका निकली। वह ब्रह्मचर्य व्रत में दृढ़ रही और उसके बल से चलचित्त मुनि को भी उसने फिर से संयम में दृढ़ कर दिया।

---

* वेश्या या भ्रष्ट स्त्री—

४—बन्धन[1]

उस काल और उस समय में राजगृह नामक एक नगर था, जहाँ श्रेणिक नामक महाराजा राज्य करता था। उस नगर के बाहर, उत्तर-पूर्व दिशा में, गुणशिलक नामक एक चैत्य था। उससे न अधिक दूर न अधिक नजदीक एक उजड़ा हुआ बड़ा जीर्णोद्यान था, जिसमें अनेक विनष्ट हुए देवालयों के खण्डहर, तोरणद्वार और गिरे हुए घर थे। यह उद्यान नाना प्रकार के गुच्छ, गुल्म, लता, वल्लि आदि से आच्छादित था और सहस्रों व्याल—हिंसक जन्तुओं के रहने से बड़ा ही भयानक था। उद्यान के मध्य भाग में एक बड़ा भग्न कूप था, जिससे न अधिक दूर न अधिक नजदीक एक बड़ा मालुकाकच्छ[2] था, जो देखने में बड़ा रम्य, कृष्ण वर्ण तथा अनेक मेघों के समूह की तरह लगता था। यह भीतर से पोला और बाहर से गम्भीर-गह्वर था तथा चारों ओर वृक्ष, गुच्छ, गुल्म, लता, वल्लि, तृण, कुस और सूखे ठूंठों से घिरा हुआ था। इसके आस-पास अनेक हिंसक जन्तुओं का वास था।

उस नगर में, व्यापारियों में श्रेष्ठ धन्य नामक एक उदार और ऋद्धिवान सार्थवाह रहता था, जिसके भद्रा नामक भार्या थी, जो बड़ी ही सुकुमाल हाथ पाँववाली थी। उसका कोई भी अङ्ग हीन नहीं था—शरीर पाँचों इन्द्रियों से परिपूर्ण था। वह सर्व लक्षण,[3] व्यञ्जन[4] और गुणों से सुशोभित थी। मान उन्मान और प्रमाण[5] में पूरी थी। सर्वाङ्ग सुजात और सर्वाङ्ग सुन्दरी थी। वह देखने में सोमवदना, कान्त और प्रिय थी। पूर्णिमा की चाँदनी की तरह

१—ज्ञाताधर्मकथा सूत्र अध्ययन २ के आधार पर। मूल में इस कथा का शीर्षक 'संघाड़' है, जिसका अर्थ होता है—'एक बेड़ी में साथ बांधे हुए'।

२—मालुका=एक प्रकार का झाड़ वृक्ष। मालुकाकच्छ=मालुका वृक्षों की झाड़ी।

३—जन्म से ही शरीर में रहे हुए शुभ चिन्ह।

४—जन्म के बाद प्रकट हुए तिल मस आदि चिन्ह।

५—जल से भरी हुई कुण्डी में जिसके प्रवेश करने से ३२ सेर जल बाहर निकले उसे मानयुक्त, जिसका वजन ४००० तोला हो उसे उन्मानयुक्त और अपने आंगुल से मापने पर जिसकी ऊँचाई १०८ आंगुल हो उसके शरीर को प्रमाणयुक्त माना जाता था।

उसको सौन्दर्य-कौमुदी चारों ओर छिटका करती। इतनी रूपवान होने पर भी वह बन्ध्या—निःसन्तान थी।

इस धन्य सार्थवाह के पंथक नामक एक दासपुत्र था, जो सर्वाङ्ग सुन्दर, मोटा-ताजा और बालकों को खेलाने की क्रिया में अत्यन्त कुशल था।

धन्य सार्थवाह राजगृह नगर के सेठ सार्थवाह तथा अठारह श्रेणी-प्रश्रेणी के लोगों में अग्रणी था तथा अनेक कार्य, कारण, मन्त्रणा, गुप्त वार्ता, रहस्य, निश्चय और व्यवहारों में सलाहकार था। वह अनेक कुटुम्बों के लिये नेत्र स्वरूप—मार्ग प्रदर्शक था।

उसी राजगृह नगर के बाहर विजय नामक एक तस्कर (चोर) रहता था जो अत्यन्त पापी, चाण्डाल, देखने में बड़ा भयावह और रौद्र कर्मों का करनेवाला था। उसकी आंखें क्रोध से सदा लाल रहतीं। वह बड़ा कर्कश था। उसकी दाढ़ी विकृत, घनी और विभत्स थी। उसके होट परस्पर असंघटित थे। उसके माथे के केश चारों ओर बिखरे हुए थे। उसका रंग भंवरे के समान कृष्ण था। वह बड़ा ही निर्दय, पश्चाताप रहित, रौद्र, भयावना और नृशंस था। दया का उसमें लवलेश भी न था। वह सर्प की तरह[१] एक दृष्टिवाला, क्षुर की तरह केवल काटनेवाला, गीध की तरह मांस-लोलुप, अग्नि की तरह सर्वभक्षी और जल की तरह सर्वग्राही था तथा उत्कञ्चन,[२] वञ्चन, माया, वकवृत्ति और कूट—कपट के प्रयोगों में बहुत निपुण था। वह बड़ा जुआरी और मद्यपी था तथा बड़ा क्रूर साहसिक, सन्धिछेदक क्षेत्रखानक, प्रच्छन्नचारी और विश्वासघातक था। अग्नि लगाने और तीर्थ स्थानों को लूटने जैसे निकृष्ट कामों को करने में भी हिचकिचाता न था। पर द्रव्य हरण में हमेशा बुद्धि रखनेवाला और बात-की-बात में तीव्र बैर बांध लेनेवाला था।

एक बार भद्रा मध्यरात्रि के समय कुटुम्ब की चिन्ता से जाग उठी और विचारने लगी "मैं धन्य सार्थवाह के साथ अनेक वर्षों से शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श के अनुपम मानुषिक कामभोगों को भोगती हुई जीवन बिता रही हूँ परन्तु मुझे सन्तान प्राप्त नहीं होती! वे स्त्रियां धन्य—वास्तव में पुण्यशाली,

१—सर्प के एक ही नेत्र होता है, उसी तरह विजय चोर के मन में केवल चोरी की ही भावना रहती थी।

२ घटिया चीज को बढ़िया बतला कर ठगने की क्रिया।

कृतकृत्य और सुलक्षणी हैं और उनका मनुष्य जन्म लेना सफल हुआ है जिनकी गोद में स्व कुक्षि से उत्पन्न बालक क्रीड़ा करते हुए मुग्ध होकर स्तन पान करते और किलकारियाँ मारते हैं और जो स्तन प्रदेश से खिसकते हुए बालक के कमल जैसे कोमल हाथों को पकड़ कर उसे अपनी गोदमें बैठाती और बार-बार अत्यन्त मधुर शब्दों में हिलोरियाँ देती हैं। मैं कितनी—अधन्य, अपुण्य, कुलक्षणी और अकृतपुण्या हूँ कि मुझे एक भी बालक न जन्मा !" ऐसी चिन्ता करते-करते उसने देवताओं की मनौतियाँ मनाने का विचार किया।

सुबह होने पर भद्रा ने धन्य सार्थवाह को अपने विचार प्रकट किए। धन्य सार्थवाह ने कहा—"हे भद्रे ! मैं भी चाहता हूँ कि किसी उपाय से तुम्हारे सन्तान हो। इसलिए देवताओं को मनाने के हेतु से तुम जो भी कार्य करोगी उसमें मेरी सम्मति है"।

पति की सम्मति पाकर भद्रा बड़ी ही हृष्ट-तुष्ट हुई। उसके बाद उसने अनेक प्रकार के नैवेद्य तैयार करवाए। पुष्प, गन्ध, माल्य आदि पूजा का प्रचुर सामान सजाया और मित्र, ज्ञाति, सगे-सम्बन्धी और परिजनों की महिलाओं को साथ लेकर देवी की पूजा के लिए निकली। राजगृह नगरी के बाहर एक पुष्करणी थी। वहाँ पहुँच जलमज्जन- स्नान, जलक्रीड़ा और अङ्ग प्रक्षालन कर उसने पुष्करणी से सहस्र पत्रवाले कमल बीने। फिर भींगे कपड़े पहने हुए ही नैवेद्य, पुजापे और कमल फूलों द्वारा नाग, भूत, यक्ष, इन्द्र, स्कन्ध, रुद्र, शैव और वैश्रमण आदि देवताओं की पूजा की और घुटने टेक कर मिन्नत मनाती हुई बोली- "हे देव ! मेरे दुर्दिन दूर करो। यदि मेरे पुत्र या पुत्री होगी तो मैं याग[1] करूँगी, पर्व दिवसों[2] में दान दूँगी, सम्पत्ति का देवखाते भाग करूँगी और अक्षयनिधि में वृद्धि करूँगी"।

भद्रा हर महीने चौदश, अष्टमी, अमावस्या और पूर्णिमा को आकर इसी तरह मानता मनाती।

समय पाकर भद्रा का मनोरथ पूरा हुआ। वह गर्भवती हुई और ९ महीने ७॥ दिन बीतने पर उसने एक सुन्दर पुत्र प्रसव किया। देवों की कृपा से होने से बालका नाम देवदत्त रखा गया। पुत्र-जन्म से खुश होकर भद्रा ने भावी

१—पूजा विशेष या यज्ञ।

२—अष्टमी, चतुर्दशी, अमावस्या और पूर्णिमा।

हुई मानता के अनुसार सब देवताओं के याग किए, दान दिया और अक्षयनिधि में वृद्धि की। दासपुत्र पंथक उस बालक को गोद में रखने लगा और अनेक बालक-बालिकाओं के साथ क्रीडा करता हुआ उसे खेलाता। एक बार भद्रा ने बालक को स्नान करा बलिकर्म, कौतुक, मंगल और प्रायश्चित[1] कार्य कर सुन्दर वस्त्राभूषणों से उसे सुसज्जित कर पंथक को खेलाने के लिए सौंपा। पंथक उसे गोद में लेकर बाहर चला और अनेक बालक बालिकाओं के साथ जहाँ राजमार्ग था वहाँ आया। देवदत्त बालक को एकान्त जगह में बिठा कर खुद दूसरे बालकों के साथ खेल में लग गया।

इसी बीच, विजयचोर, राजगृह नगर मे भटकता हुआ, जहाँ देवदत्त बालक बैठा हुआ था, वहाँ आ निकला। बालक के पहने हुए अलङ्कारों पर उसकी दृष्टि पडी। वह उनमें आसक्त हो गया और लोभवश बालक को उठा ले जाने का विचार ठान लिया। उधर पंथक खेल में मस्त था। विजय ने चारों ओर नजर डाली। वहाँ किसी को न देख कर उसने बालक को गोद में उठा लिया। उसे काख में डाल ऊपर से वस्त्र ओढ़ और अत्यन्त शीघ्र गति से राजगृह नगर के बाहर निकल, जीर्णोद्यान मे, जहाँ भग्न कूप था, वहाँ जा पहुँचा। वहाँ पहुँच कर उसने बालक को मार डाला, उसके शरीर से सब गहने उतार लिए और शव को कूप में डाल दिया और फिर खुद मालुकाकच्छ की झाडी में छिप गया और वहाँ लुक-छिप कर चुपचाप रहने लगा।

पंथक कुछ समय बाद, खेल समाप्त होने पर वापिस लौटा परन्तु देवदत्त उसे दिखाई न दिया। पंथक ने उसे सब जगह खोजा और उसे न पा रोता हुआ धन्य सार्थवाह के पास पहुँचा और उसे सारी हकीकत कही। यह सुन कर सार्थवाह पुत्र-शोक से विह्वल हो कुल्हाडी से काटे गए चम्पक वृक्ष की तरह धड़ाम से भूमि पर गिर पड़ा। बाद में जब फिर होश हुआ तो वह बालक की खोज में निकला परन्तु उसका कहीं पता न चला। निराश होकर सार्थवाह वापिस घर लौटा और एक बड़ी भट तैयार कर, कोतवाल के पास पहुंच, उसे अपने एकमात्र बालक के अपहरण की सारी बात सुनाई और बालक को चारों दिशाओं मे खोजने की प्रार्थना की। कोतवाल सुसज्जित होकर धन्य सार्थवाह को साथ

---

१ – बलिकर्म : गृह-देवता की पूजा, कौतुक : मषी तिलकादि, मंगल : आरती आदि, प्रायश्चित : ममकादि को अवार कर फेंकना आदि।

ले बालक की खोज में निकला। खोज करते-करते वह उस भग्न कूप के पास पहुँचा जिसमें बालक की शव गिराई गई थी। कूएँ में तिरती हुई शव को देख कर सब को खेद हुआ। बालक की शव को कूएँ से निकाला गया। कोतवाल ने खेद के साथ उसे सार्थवाह को सौंपा और फिर चोर के पाद-चिन्ह की खोज करते २ मालुकाकच्छ की झाड़ी में प्रवेश कर सब के सामने विजय चोर को पकड़ लिया, उसे मजबूती से बांध कर कठोर मार से उसके शरीर को जर्जरित कर दिया और उसके पास से गहने ले लिए। फिर, 'विजय बालकों का चोर है'– 'बालकों का घातक है' – ऐसे उद्घोस के साथ उसको अच्छी तरह पीटते-पीटते राजगृह नगर के बीच से होते हुए उसे कैद खाने में ले गया।

वहाँ विजय चोर बेड़ियों में डाल दिया गया, उसका खान-पान बंद कर दिया गया और सुबह, दोपहर और शाम को उसे बुरी तरह पीटा जाता। धन्य ने बालक की अन्त्येष्टी क्रिया की। धीरे-धीरे धन्य का चित्त शान्त हुआ। वह बालक का शोक भूला और घर का काम-काज सम्भालने लगा।

इसी बीच में धन्य सार्थवाह किसी साधारण बात के लिए राज-अपराध मे फँस गया और बंदी कर लिया गया। राजा ने विजय चोर के साथ एक ही बेड़ी में उसे बाँध रखने का हुक्म दिया।

सूर्योदय होने पर भद्रा ने धन्य के लिए विपुल अशन, पान, खादिम और स्वादिम[1] वस्तुएँ तैयार कीं। भोजन के बर्तनों को पिटक में सजा ऊपर से मोहर मुद्रा कर, सुरभित पानी के एक करवे के साथ समग्र सामग्री पंथक को दे उसे सेठ के पास जेलखाने भेजा। जेलखाने पहुँच कर पन्थक भोजन सामग्री खोल और बर्तनों को जल से स्वच्छ कर सारी सामग्री परोस कर सेठ को जिमाने लगा। धन्य सार्थवाह को भोजन करते देख कर विजय चोर उससे बोला— "इस विपुल भोजन सामग्री में से मुझे भी कुछ दो"। यह सुन कर धन्य सार्थवाह बोला—"हे विजय! मैं बची हुई भोजन सामग्री को कौओं और कुत्तों को खिला दूँगा या उकरड़ी—कूड़ेखाने में फेंकवा दूँगा परन्तु तुम जैसे पुत्रघातक बैरी, प्रत्यनीक और अमित्र को तो निश्चय ही इसमें से एक दाना भी नहीं दूँगा"।

भोजन कर लेने के बाद धन्य ने पंथक को विदा किया। अति आहार कर लेने से सार्थवाह को शौच तथा लघुशंका (टट्टी-पेशाब)

१–अशन : अन्न; पान : पानी, दूध आदि; खादिम–मेवे आदि; स्वादिम : पान इलायची आदि।

की ओर से हाजत हुई। चूंकि सार्थवाह विजय चोर के साथ एक ही बेड़ी में बंधा हुआ था इसलिए वह उससे बोला—"हे विजय! एकान्त में चलो जिससे कि मैं अपनी हाजतों को दूर कर सकूं।" यह सुन कर विजय चोर बोला—"तुमने विपुल अशन पान खाए है, जिससे तुम्हें शंकाएँ हुई हैं। मुझे तो अनेक प्रकार से मारा-पीटा जाता है और भूख और प्यास से मैं बिलकुल पराभूत हो चुका हूँ, इसलिए मुझे कोई हाजत नहीं अतः तुम अकेले ही एकान्त में जाकर अपनी हाजतों को दूर करो"। यह सुन धन्य सार्थवाह चुप हो गया। परन्तु टट्टी और पेशाब की हाजत बढ़ती ही जाती थी और अन्त में असह्य हो गई। इसलिए सार्थवाह ने विजय चोर को फिर एक बार एकान्त में चलने का अनुरोध किया। विजय चोर बोला—"अगर तुम अपने लिए भेजे गए विपुल अन्न पान आदि में से मुझे कुछ देना मंजूर करो तो मैं एकान्त में जाने के लिए तैयार हूँ"। मन न होते हुए भी परवश सार्थवाह ने यह बात स्वीकार की। इसके बाद एक साथ बंधे हुए वे दोनों एकान्त में गए और सार्थवाह ने अपनी हाजतें पूरी कर शरीर—शुचि की।

इस दिन से रोज सेठ विजय चोर को अपने भोजन में से कुछ आहार देने लगा और बाधा रहित होकर सुखपूर्वक जीवन बिताने लगा। विजय चोर को आहार देने की बात पंथक के जरिए भद्रा के कानों तक पहुँची। यह सुन कर भद्रा अत्यन्त क्रोधित हुई और सेठ पर रुष्ट हो गई।

थोड़े दिनों के बाद मित्रों के प्रयत्न से और धन के बल से धन्य सार्थवाह जेलखाने से छूटा और अलंकारिक सभा में हजामत करा, पुष्करणी में नहा-धो अपने घर की ओर चला। धन्य सार्थवाह को आते देख कर राजगृह नगर के बहुत सेठ उसको स्वागत सहित सत्कार-सम्मान देने लगे, और उठ-उठ कर कुशल समाचार पूछने लगे। चलते-चलते सार्थवाह अपने घर पहुँचा। वहाँ पर नौकर-चाकरों ने पैर गिर कर क्षेम कुशल पूछा। माता-पिता, भाई-बहिन सबने अपने-अपने आसन से उठ, उसे कण्ठ लगा उसका आलिंगन किया और प्रेमाश्रु से उसका स्वागत किया। इसके बाद सार्थवाह भद्रा भार्या के पास आया। परन्तु भद्रा भार्या ने उसका स्वागत नहीं किया और न उससे बोली। सम्मान करना तो दूर उलटे वह मुँह फेर चुपचाप बैठी रही। यह देख कर सार्थवाह बोला—"हे देवानुप्रिये! मैं जेल से छूट कर आया हूँ तो भी तू हर्षित नहीं, संतुष्ट नहीं और आनन्दित नहीं इसका क्या कारण है?"

भद्रा बोली—"हे देवानुप्रिय ! मुझे हर्ष कैसे हो सकता है जब कि तुमने मेरे पुत्र के प्राण हरण करनेवाले विजय चोर को आहार दिया।"

यह सुन कर सार्थवाह बोला—"हे देवानुप्रिये। मैंने उसे धर्म की दृष्टि से नहीं दिया, तप की दृष्टि से नहीं दिया, लोगों को दिखाने के विचार से नहीं दिया, नायक समझ कर नहीं दिया, ज्ञातक समझ कर नहीं दिया और बांधव समझ कर नहीं दिया परन्तु एक मात्र अपने जीवन की चिन्ता से दिया है। चूंकि मैं और विजय चोर एक ही बेड़ी में एक साथ बन्धे हुए थे अतः उसके हिले-चले बिना लघुशंका आदि की जरूरी हाजतों को दूर करने के लिए भी मेरा आना-जाना नहीं बन सकता था। ऐसी हालत में यदि मैं भोजन देना नामंजूर करता तो मेरे लिए जीना ही मुश्किल होता और आज मैं जीते जी घर नहीं लौट सकता। केवल जीवन की रक्षा के हेतु से ही मैंने विजय चोर को आहार पानी दिया।" यह सुन कर भद्रा शान्त और बडी हृष्ट-तुष्ट हुई। आसन छोड़, कण्ठ लगा सेठ का आलिंगन किया और क्षेम कुशल पूछा। सार्थवाह धन्य और भद्रा फिर एक साथ सुखोपभोग करते हुए जीवन बिताने लगे।

एक बार धर्मघोष नामक एक स्थविर मुनि पूर्वानुपूर्वी विहार करते हुए और अनुक्रम से गाँव-नगर पार करते हुए राजगृह नगर मे पधार कर गुणशील चैत्य में ठहरे। धन्य सार्थवाह मुनिराज के दर्शन के लिए गया और उन्होंने उसे नाना धर्मोपदेश सुनाया। सेठ ने मुनिराज के बताए हुए धर्म को सच्चा समझा और उस पर उसे श्रद्धा उत्पन्न हुई, जिससे उसने दीक्षा ग्रहण की। इसके बाद अनेक वर्षों तक तपस्या कर, चारित्र पालन कर और अन्त में अन्न-पानी त्याग एक मास की संलेखणा कर सुधर्म नामा देवलोक मे देवता के रूप में उत्पन्न हुआ। वहाँ से चल कर महाविदेह वास पाकर वह सिद्ध, बुद्ध और मुक्त होगा।

जिस तरह सार्थवाह और विजय चोर स्वभाव से एक दूसरे के विपरीत होने पर भी एक साथ बांध दिए गए, उसी तरह से यह पौद्गलिक शरीर और अजर अमर आत्मा केवल कर्म संयोग से एकमेक हो रहे हैं। जिस तरह एक ही बेड़ी में बन्धे होने से सार्थवाह को विजय चोर के सहचार की जरूरत हुई उसी तरह शरीर और आत्मा एकावगाह होने से कार्यसिद्धि के लिए आत्मा को शरीर के सहचार की भी जरूरत होती है।

भूखा विजय चोर जिस तरह सार्थवाह का सहगामी नहीं हुआ उसी तरह भूखी देह धर्म की आराधना में सहभूत नहीं होती। जीवन की रक्षा के लिए

जिस तरह सार्थवाह को विजय चोर को भोजन देना पड़ा उसी तरह आत्मा के उद्धार के लिए शरीर का भी भरण-पोषण करना जरूरी होता है।

यह शरीर विजय चोर की तरह अनेक अशुभ प्रवृत्तियों की ओर झुकनेवाला तथा नाना प्रकार के विषय सेवन का आधार है। जिस तरह सार्थवाह ने केवल अपने मतलब की सिद्धि के लिए ही विजय चोर का भरण पोषण किया उसी तरह नाना प्रकार की विभूषा और स्त्रियों के संसर्ग का त्याग कर देनेवाले ब्रह्मचारी निर्ग्रन्थ व निर्ग्रंथी सद्गुणों की उपासना तथा ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप की आराधना के लिए ही शरीर का पोषण करते है।

सार्थवाह ने विजय चोर को कभी अपना नहीं समझा उसी तरह से ब्रह्मचारी शरीर में आसक्त नहीं होते। वे वर्ण की वृद्धि के लिए, रूप की वृद्धि के लिए, बलवीर्य की वृद्धि के लिए या विषय सेवन की लालसा के लिए भोजन नहीं करते परन्तु केवल संयमी जीवन के लिए जरूरी तपादि क्रियाओं के सम्यक् पालन के लिए ही सहभूत शरीर का भरण-पोषण करते है।

जिस तरह धूरा में तेल डाला जाता है और घाव पर औषधि का लेप किया जाता है उसी तरह से देह में अमूर्छित ब्रह्मचारी केवल जीवन के निर्वाह के लिए ही सादा और परिमित आहार करते हैं, स्वाद के लिए नहीं।

अलोले न रसे गिद्धे, जिब्भा दंते अमुच्छिए।
न रसट्ठाए भुंजेज्जा, जवणट्ठाए महामुणी ॥

कामराग और विषय के स्वरूप को समझनेवाले जो ब्रह्मचारी उपरोक्त दृष्टि और परमार्थ से भोजन करते है वे इस लोग में बहुत आदर पाते हुए क्रमशः संसार के दुःखों से दूर होकर अन्त में निर्वाण पद को पाते है।

*　*

*

५—माकंदी पुत्र*

उस काल और उस समय में चम्पा नामक नगरी थी, जहाँ कोणिक नामक राजा राज्य करता था। उसके बाहर उत्तर-पूर्व दिशा में पूर्णभद्र नामक एक चैत्य था। उस नगरी में माकन्दी नामक एक सार्थवाह बसता था, जो अत्यन्त समृद्धिवान और प्रतिष्ठित था। उसकी भार्या का नाम भद्रा था, जिससे सार्थवाह को जनपालित और जिनरक्षित नाम के दो पुत्र थे। ये दोनों भाई बड़े ही साहसिक और व्यापार कुशल थे। वे ग्यारह बार लवणसमुद्र की यात्रा कर चुके थे और हर बार प्रचुर धन कमा कर लौटे थे। एक बार फिर दोनों के मन में लवणसमुद्र की यात्रा करने का विचार उठा और माता-पिता की सम्मति लेने के लिए वे दोनों उनके पास गए।

पुत्रों के विचार को सुन कर माकन्दी सार्थवाह और भद्रा भार्या चिन्ताग्रस्त हो गए। वे बोले – "हे पुत्रो! पूर्वजों का कमाया हुआ प्रचुर धन हमारे पास है। उसका उपयोग करते हुए धन और काम-सम्बन्धी उत्तम मानुषिक भोगों का सेवन करो। लवणसमुद्र की कष्टपूर्ण यात्रा करने की अब क्या जरूरत है? कहीं इस कठिन यात्रा मे तुम्हारे शरीर को विघ्न उत्पन्न हो तो निरर्थक हम पर चिन्ता का भार आ पड़े। इसलिए बहतर है कि तुमलोग इस बारहवीं यात्रा का विचार छोड़ दो।"

माता-पिता के इस तरह समझाने पर भी जिन रक्षित और जिन पालित ने अपना विचार नहीं बदला। पुत्रों के अत्यधिक आग्रह को देख कर, इच्छा न होते हुए भी, सेठ और सार्थवाही को, अन्त में, अनुमति देनी पड़ी। माता-पिता की आज्ञा पा, हर प्रकार की वाणिज्य सामग्री जहाज में भर, माकंदी सेठ के दोनों पुत्र यात्रा को निकले। समुद्र में सैकड़ों योजन चले जाने के बाद हठात् बहुत उत्पात उत्पन्न हुए। प्रचण्ड और प्रतिकूल वायु बहने लगी, भयानक गर्जारव होने लगा, जहाज नाना प्रकार से डगमगाने लगा और गेन्द की तरह इधर-उधर उछलने लगा। जहाज की पतवार तथा उसका मुख भाग चूर्ण हो गया, मेंढी टूट गई, बैठने की जगह नष्ट हो गई और जल भरने लगा। तख्तों की

---

* ज्ञाताधर्मकथा सूत्र अ० ९ के आधार पर।

सांधें तड़तड़ शब्द के साथ फटने लगीं, लोह के कांटे निकल गए और जहाज के सब अवयव अलग-अलग होकर बिखर गए। कर्णधार, नाविक, वणिकजन और नोकर 'हा हा' रव करते हुए विलाप करने लगे और उनकी आँखों से अश्रुपात होने लगा। देखते-देखते जल के अन्दर रहे हुए एक बड़े पर्वत की चोटी से जहाज टकरा गई। उसके रहे-सहे कूपस्तम्भ और तोरण टूट गए, ध्वजदण्ड चकनाचूर हो गया, और जहाज के छोटे-छोटे सैकड़ों टुकड़े हो गए और कड़-कड़ कर शब्द करते हुए जहाज वहीं पर समुद्र में डूब गया। जहाज के साथ ही उसमें रहे हुए बहुत लोग तथा सारा धन माल समुद्र में डूब गया। संयोगवश जहाज की पतवार का एक बड़ा टुकड़ा दोनों भाइयों के हाथ आ गया। उस स्थान से, जहाँ पर जहाज टकरा कर डूबा था, नजदीक ही एक बड़ा द्वीप था. जिसे रत्नद्वीप कहा जाता था। यह अनेक योजन लम्बा, चौड़ा और विस्तृत परिधि वाला था। उसका प्रदेश भाग विविध वनों से सुशोभित था तथा उसकी भूमि प्रचुर धन सामग्री से परिपूर्ण थी। यह द्वीप दर्शनीय, मनोहर और चित्त को आह्लादित करनेवाला था।

इस द्वीप के बीचोबीच एक बहुत बड़ा उत्तम प्रासाद था, जो अपनी ऊँचाई के कारण दूर से ही दिखलाई देता था और जो बड़ा ही मनोहर और सुरम्य था। इस प्रासाद में रत्नद्वीप नाम की एक देवी रहती थी, जो अत्यन्त पापिष्ठ, चण्ड, रौद्र और तुच्छ स्वभाववाली थी। वह बड़ी ही साहसिक और हीन चारित्र थी। इस प्रासाद के चारों दिशाओं में चार वनखण्ड थे।

भग्न पतवार के सहारे से तिरते-तिरते माकंदी सार्थवाह के दोनों पुत्र इस द्वीप के किनारे आ लगे। वहाँ उतर कर दोनों भाइयों ने फलों का भोजन किया और थकावट दूर करने के लिए नारियलों से तेल निकाल परस्पर मालिश की। फिर स्नान कर, वहाँ रक्खी हुई शिला पर, सुख से बैठ कर, विश्राम करने लगे। उस समय चम्पानगरी, माता-पिता के पास से रजा मांगना, लवणसमुद्र की यात्रा के लिए निकलना, प्रतिकूल वायु का उत्पन्न होना, जहाज का चकनाचूर होकर डूब जाना, पतवार का हाथ आना और आखिर रत्नद्वीप पहुँचना ये सारी घटनाएँ एक-एक कर उनके मानस के सामने दौड़ने लगीं और वे नाना प्रकार की चिन्ताओं में व्यस्त हो गए। उधर रत्नद्वीप देवी को अपने अवधिज्ञान के बल से वहाँ आए हुए इन माकंदी पुत्रों का पता चला। उन्हें देखते ही वह ढाल और तलवार हाथ में ले, विकराल रूप धारण कर और सात-आठ ताड़ ऊँची

आकाश में उड़, देवगति से चलती हुई उन दोनों भाइयों के पास पहुँची और अत्यन्त क्रोधयुक्त लेकर बड़े ही कठोर और निष्ठुर शब्दों में बोली—"हे माकंदी पुत्रो ! हे अनइच्छित की इच्छा करनेवालो ! यदि तुमलोगों को अपना जीवन प्रिय हो तो मेरे साथ चल कर कामभोग सेवन करते हुए रहना मंजूर करो अन्यथा इस काली कराल तलवार द्वारा तुम्हारे मस्तक को छेद कर एकान्त में फेंक दूँगी।"

देवी क इन वचनों को सुन कर दोनों भाई भयकम्पित हो हाथ जोड़ कर बोले-"हे देवानुप्रिये ! हमलोग, जो तुम कहोगी और जो तुम्हारी आज्ञा होगी, उसके अनुसार कार्य करने को प्रस्तुत है। इसके बाद वह देवी दोनों भाइयों को साथ ले अपने प्रासाद को लौटी। वहाँ उनके शरीर से अशुचि पुद्गलों को दूर कर उनमें शुभ पुद्गलों को भर्ती किया और उनके साथ विपुल कामभोग भोगती हुई जीवन बिताने लगी। मार्कंदी पुत्रों को वन के अमृत जैसे स्वादिष्ट फल रोज-रोज खाने को मिलते और वे बड़े आनन्द से रहने लगे।

एक बार इस रत्नद्वीप देवी को, शक्रेन्द्र की आज्ञा से, सुस्थित नामक लवण-समुद्र के अधिपति ने आज्ञा की—"तुम जाओ और इस लवणसमुद्र में, जो भी तृण, पर्ण, काष्ठ, कूड़ा-कचरा, अशुचि, पूति या अन्य कोई भी अपवित्र वस्तु पड़ी हो, उसे निकाल कर दूर फेंक दो और इस तरह एकीश बार कर उसे बिलकुल साफ कर दो"।

यह आज्ञा पाकर देवी माकंदी पुत्रों से बोली—"शक्रेन्द्र की आज्ञा से मैं लवणसमुद्र की सफाई के लिए जा रही हूँ। जबतक मैं वापिस न आऊँ, तबतक तुमलोग इसी प्रासाद मे सुखपूर्वक रहना।

"अगर मेरे वियोग से तुम्हारा मन उचट जाय, विह्वल हो जाय या कोई उपद्रव उत्पन्न हो तो तुमलोग पूर्व दिशावाले वनखण्ड मे जाना। उस वनखण्ड में हमेशा वर्षा और शरदऋतु छाई हुई रहती है। यह वनखंड इन्द्रगोप रूपी पद्मरागादिक मणियों द्वारा विचित्र वर्ण है, झरनों के शब्द की तरह वहाँ मेंढकों के शब्द होते रहते है, तथा वृक्षों पर मयूरों के टहकारे होते रहते है। इस वनखंड में अनेक सरोवर, लतामंडप और वल्ली घर हैं, जहाँ खूब सुखपूर्वक विचरना।

अगर इस वनखण्ड में मन न लगे तो उत्तर दिशावाले वनखण्ड में जाना। वहाँ शरद और हेमन्त दोनों ऋतुएँ छाई रहती हैं। नीलोत्पल कदम और नलिनी फूल वहाँ खिले रहते हैं तथा सारस और चक्रवाक पक्षी वहाँ सदा मधुर

शब्द किया करते हैं। खिले हुए श्वेत कुन्दपुष्प से वह वनखण्ड चन्द्रमा की ज्योत्स्ना के समान निर्मल लगता है। पुष्पित लोध्र वृक्षों के समूह से वह हँसता रहता है और तुषार बिन्दुओं की धारा से वह वनखण्ड सजीव-सा लगता है। वहां सरोवरों में क्रीड़ा करना और आनन्द से रहना।

"यदि वहाँ भी मन न लगे तो पश्चिम दिशावाले वनखण्ड में जाना। वहाँ बसन्त और ग्रीष्म दोनों ऋतुएँ हमेशा छाई रहती है। वह वनखण्ड आम्र वृक्षों की मनोहर पंक्तियों से सुशोभित है। अशोक तिलक और बकुल के पुष्पों से शोभायमान है। उसमें शीतल और सुगन्धित वायु बहती रहती है।

"यदि वहाँ भी मन न लगे तो वापिस इस प्रासाद में आकर मेरी बाट जोहते हुए रहना परन्तु दक्षिण दिशावाले वनखण्ड में कभी मत जाना। उस वनखण्ड में एक बड़ा क्रूर दृष्टि विष सर्प रहता है। वह बड़ा क्रोधी और प्रचण्ड है। उसकी आँखें लाल रहती हैं और मुँह में दो चंचल जिह्वाएँ लपलपाती रहती हैं। उसका रंग काजल की तरह काला है। लुहार की भट्टी में धमाते हुए लोहे की तरह वह निरन्तर धम-धम शब्द किया करता है। वह घोर विषधर है। उसका विष, बड़े-से-बड़े शरीर में भी, शीघ्रता से फैल जाता है। तुमलोग उस वनखण्ड में मत जाना, नहीं तो कदाश उस दृष्टि विष सप के कोप से तुमलोगों को अपने प्राणों से हाथ धोना पड़े?" दो तीन बार इस तरह चेतावनी देकर देवी लवणसमुद्र को साफ करने के लिए चली गई।

देवी के चले जानेसे माकंदी पुत्रों के मन मे चैन न रहा। वे उत्तर, पूर्व और पश्चिम दिशाओं के वनखण्ड में जाकर शान्ति पाने की चेष्टा करने लगे परन्तु कहीं भी उन्हे चैन न पड़ता था। एक दिन दोनों भाइयों ने मिल कर विचार किया—"देवी ने दक्षिण दिशावाले वनखण्ड में जाने की मनाई की है, इसमे हो-न-हो कोई रहस्य है। इसलिए आज इसी वनखण्ड मे चलना चाहिए"। ऐसा विचार कर दोनों भाई उस दिशा में गए। वे थोड़ी ही दूर गए होंगे कि बड़े जोर से दुर्गन्ध आने लगी, जैसे कोई मरा हुआ सप सड रहा हो। दोनों भाइयों ने उत्तरीय वस्त्र से अपने नाक ढके और आगे बढ़े। वनखण्ड में पहुँच कर वहाँ उन्होंने एक बड़ा वधस्थान देखा। वह स्थान सैकड़ों हड्डियों के ढेरों से भरा हुआ था। उस भयानक स्थान में उन्होंने शूली पर चढ़ाए हुए एक पुरुष को देखा, जो दीन-करुण चित्कार कर रहा था। वह देख कर पहले तो दोनों भाई बहुत भयभीत हुए परन्तु बाद में साहस कर उसके समीप जाकर उससे पूछने लगे—"हे

देवानुप्रिय ! यह बधस्थान किसका है ? तुम कौन हो ? यहाँ तुम कैसे आए और किसने तुम्हें इस विपत्ति में डाला है ?"

यह सुन कर शूली से बींधा हुआ पुरुष बोला—"हे देवानुप्रियो ! यह बधस्थान रत्नद्वीप की अधिष्ठायक देवी का है। मैं जंबूद्वीप के भरतक्षेत्र के काकंदी नामक नगर का रहनेवाला और घोड़ों का व्यापारी हूँ। अनेक घोड़े तथा भाण्डोपगरण को लेकर मैं लवणसमुद्र की यात्रा मे निकला था। बीच मे पोतवहन के डूब जाने से सब सामान डूब गया और मैं अकेला पतवार के सहारे से इस द्वीप में पहुँच सका और यहाँ की देवी के साथ सुखोपभोग करता हुआ रहने लगा। एकदा नाकुछ छोटे अपराध से क्रोधित होकर उसने मुझे इस प्रकार शूली पर चढ़ा दिया। शायद तुमलोगों को भी कभी ऐसे ही कष्ट का सामना करना पड़े !" यह सुन कर दोनों भाई बड़े भयभीत हुए और उस पुरुष से फिर पूछने लगे—"हे देवानुप्रिय ! हमलोग रत्नद्वीप देवता के पंजे से किस प्रकार त्राण पा सकते हैं ?"

यह सुन कर वह पुरुष बोला—"हे देवानुप्रियो ! इस पूर्व दिशा के वनखण्ड मे एक यक्षायतन - चैत्य है, जिसमे अश्व के रूप को धारण करनेवाला सेलक नामक यक्ष रहता है। वह चतुर्दशी, अष्टमी, अमावस्या और पूर्णिमा को नियत समय प्रगट होकर जोर-जोर से उद्घोष करता है—"मैं किसको तारूँ और किसका पालन करूँ ?" हे देवानुप्रियो ! तुमलोग वहाँ जाओ और सेलक यक्ष की बहुमानपूर्वक पुष्पों से पूजा कर, दोनों घुटने टेक तथा हाथ जोड़ कर विनयपूर्वक उसकी सेवा करते रहो। जब वह प्रगट हो और उपरोक्त प्रश्न करे तो उससे कहना—"हमलोगों को बचाओ और हमारा पालन करो"। यह कहने पर वह सेलक यक्ष तुमलोगों का त्राण करेगा। तुमलोगों के बचाव का इसके सिवा कोई दूसरा उपाय नहीं है।"

यह बात सुन कर दोनों भाई शीघ्रता से पूर्व दिशावाले वनखण्ड में गए, वहाँ पुष्करणी में स्नान किया, कमल बीने और भक्तिपूर्वक यक्ष को प्रणाम कर पुष्पों से पूजा की और पर्युपासना करते हुए घुटने टेक कर मूर्ति के सामने बैठ गए।

बाद में समय आने पर सेलक यक्ष प्रगट होकर बोला—"मैं किसका त्राण करूँ ? किसका पालन करूँ ?"

यह सुन कर दोनों भाई खड़े हो गए और हाथ जोड़ कर बोले—"हमलोगों का पालन करो", "हमलोगों का त्राण करो !"

यह सुन कर यक्ष बोला—"यदि तुमलोग मेरे साथ चलना चाहोगे तो लवणसमुद्र के बीचोबीच पहुँचते-पहुचते वह पापिणी रत्नद्वीप देवी बहुत कठोर, मृदु, अनुकूल, प्रतिकूल, शृङ्गारयुक्त और करुणाजनक सब तरह के उपसर्गों के द्वारा तुमलोगों को चलायमान करने का प्रयत्न करेगी। उस समय हे देवानुप्रियो ! यदि तुमलोग उसके शब्दोंका आदर करोगे उन्हें अपनावोगे और देवी के प्रति उत्कण्ठित बनोगे तो उस हालत में मैं तुमलोगों को अपनी पीठ पर से नीचे गिरा दूँगा और यदि तुम इस तरह विचलित न होगे तो रत्नदेवी के हाथ से मैं तुम्हारा निस्तार कर दूँगा"। दोनों भाइयों ने यक्ष की शर्त को सहर्ष मंजूर किया।

इसके बाद यक्ष ने अश्व का रूप धारण कर, दोनों माकंदी पुत्रों को पीठ पर चढने का आदेश दिया। दोनों भाई सेलक को प्रणाम कर उसके कहे अनुसार, उसकी पीठ पर चढ़ गए। इसके बाद सेलक यक्ष सात-आठ ताल प्रमाण ऊँचा आकाश में उड द्रुतगति से चम्पानगरी की ओर चला।

उधर रत्नद्वीप देवी अपना काम पूरा कर वापिस लौटी। माकंदी पुत्रों को प्रासाद में न देख उसने सब जगह उनकी खोज की। अन्त मे उसने उपयोग लगा कर देखा तो उसे सारी हकीकत मालूम हुई। वह अत्यन्त क्रोधित होकर हाथ में ढाल तलवार ले तुरन्त ही माकंदी पुत्रों का पीछा करती हुई उनके समीप जा पहुँची और बोलने लगी—"हे माकंदी पुत्रो ! क्या तुमलोग सोचते हो कि मुझे छोड़ कर इस तरह सेलक यक्ष के साथ जा सकोगे ? इतनी दूर चले जाने पर भी, यदि तुमलोग मेरी बात मानने को तैयार हो, तो तुमलोगों का जीवन सुरक्षित है अन्यथा इस तीखे खड्ग के द्वारा तुमलोगों के सिर के टुकडे-टुकड़े कर दूँगी।"

देवी के इन वचनों को सुन कर भी माकंदीपुत्र जरा भी विचलित न हुए, उन्होंने उसकी बात पर जरा भी ध्यान न दिया। इस तरह प्रतिकूल उपसर्गों के द्वारा चलायमान करने में असफल होने पर वह माकंदी पुत्रों को मधुर, शृङ्गारमय और करुणापूर्ण उपसर्गों द्वारा विचलित करने का प्रयत्न करने लगी।

"हे माकंदी पुत्रो ! तुमलोगों ने मेरे साथ अनेक हास्य, क्रीड़ाएँ, खेल, भोग उपभोग और भ्रमण किए हैं। तुमलोग उन सबको नगण्य कर, मुझे छोड़ कर, अकेले ही सेलक यक्ष के साथ जा रहे हो—क्या यह तुमलोगों को शोभा देता है ?" देवी के ये प्रेमपूर्ण शब्द सुन कर जिन रक्षित कुछ शिथिल हुआ। यह जान कर देवी उसे डिगाने के लिए फिर बोली - "मैं जिनपालित को अप्रिय थी और मुझे भी वह अप्रिय था, परन्तु हे जिनरक्षित ! तू तो मुझे हमेशा प्रिय था और

मैं भी तुम्हें हमेशा प्रिय थी। जिनपालित कदाच मुझ रोती हुई, आक्रन्द करती हुई, अनुताप करती हुई की उपेक्षा कर सकता है परन्तु क्या तुम्हें भी ऐसा करना उचित है? हे नाथ! हे प्रिय! हे रमण! हे कान्त! हे स्वामी! क्या तुम इतने निर्दय, विश्वासघातक, अनार्द्र, निष्ठुर, अकृतज्ञ, निर्लज्ज, रूक्ष और हृदयहीन हो कि चरण की सेवा करनेवाली इस दासी को अकेली अनाथ और अबांधव कर चले जा रहे हो! हे गुण के समुदाय! मैं तेरे बिना एक क्षण भी नहीं जी सकती। मैं तुम्हारी आँखों के सामने अपना वध कर लूंगी। यदि मुझे जीवित रखना चाहते हो तो वापिस लौट आओ। यदि मेरा कोई अपराध हुआ हो तो माफ करना। तुम्हारे सुन्दर मुख के दर्शन के लिए मैं कितनी लालायित हूँ। कम से-कम एक बार मेरी ओर नजर उठा कर तो देखो जिससे तुम्हारे मुख-कमल के दर्शन कर सकूँ।"

इस तरह प्रेमपूर्ण, मधुर और आकर्षित वचन बोलती हुई वह देवी उनका पीछा करने लगी। इन मनोहर शब्दों से जिन रक्षित का मन चलायमान हो गया और देवी के प्रति पहिले से भी अधिक प्रेम के साथ वह आकर्षित हुआ। देवी के सुन्दर अंगोपांग और नेत्रों की लावण्यता, रूप और यौवन की दिव्यलक्ष्मी, पूर्वकृत आलिंगन, नेत्र-विकार, हास्य, कटाक्षपूर्ण दृष्टि, स्पर्श, मर्दन, क्रीड़ा, गमन और प्रमपूर्ण कोप इन सब का स्मरण करते हुए जिनरक्षित की मति राग से मोहित हो गई। वह पराधीन हो गया और लज्जापूर्वक दृष्टि पीछे कर रत्नदेवी के सम्मुख ताकने लगा। यह बात सेलक यक्ष को ज्ञान बल से तुरन्त मालूम हो गई और उसने धीरे-धीरे अपनी पीठ पर से विगत स्वास्थ्य उस जिनरक्षित को आकाश में ऊँचा उछाल दिया।

इसके बाद उस निर्दय और पापिणी देवी ने, जिनरक्षित को सेलक की पीठ पर से दयाजनक रूप से गिरते देख कर, यह कहते हुए—"हे दास! तू मरा"—समुद्र के जल में गिरने के पहले ही उसे दोनों हाथ से पकड़ कर आकाश में ऊँचा उछाल दिया और फिर आकाश से नीचे गिरते हुए को, खड्ग के अग्रभाग पर ग्रहण कर, खड्ग से उसके टुकड़े-टुकड़े कर डाले और फिर अभिमानपूर्वक उसके खून से लथपथ अंगोपांग के टुकड़ों को, अंजली में लेकर, देवताओं को बलि चढ़ाई जाती है उस तरह, चारों दिशाओं में फेंक दिया।

इस तरह जिनरक्षित का अन्त कर देवी जिनपालित को मारने के लिए उसके पीछे लगी तथा उसे तरह-तरह से चलायमान करने की चेष्टा करने लगी परन्तु उसे

विचलित करने और परिणामों से डिगाने में वह जरा भी सफल न हुई और अन्त में थक कर तथा पूर्णरूप से निराश और खेद प्राप्त हो, वह जिस दिशा से आई थी, उसी दिशा की ओर चली गई।

इसके बाद सेलक यक्ष जिनपालित को लेकर चम्पानगरी पहुँचा और नगरी के बाहरवाले श्रेष्ठ उद्यान में पहुँच कर जिनपालित को पीठ पर से उतार और उसकी रजा लेकर वापिस लौट गया।

जिनपालित अपने माता पिता के पास घर लौटा और जिनरक्षित के मरण का सारा वृत्तान्त कह सुनाया। जिनरक्षित के लौकिक मरण-कार्य किए गए।

एक बार श्रमण भगवान महावीर चम्पानगरी के पूर्णभद्र चैत्य में आकर विराजे। जिनपालित उपदेश सुन कर साधु बना। अनुक्रम से ग्यारह अंगों का अध्ययन किया और अन्त मे एक मास का अनशन कर, मृत्यु प्राप्त हो, सौधर्म कल्प में देवरूप में उत्पन्न हुआ। वहाँ से च्यव कर महाविदेह क्षेत्र में अवतरित हो सिद्धगति प्राप्त करेगा।

जो प्राप्त भोगों में सन्तोष न कर, नए-नए भोगों की खोज में भटका करते हैं, वे कामी पुरुष असन्तोषी माकंदीपुत्रों की तरह अनेक दुःखपूर्ण योनियों मे भ्रमण करते हैं।

संसार मे स्त्री से बढ़ कर कोई दूसरी आसक्ति नहीं होती। जो उसके मोह में फस जाता है, वह परभव को भूल जाता है। दुनिया के भुक्तभोगी पुरुषों का अनुभव है कि जन्म-जरा-मरणरूप सारी उपाधियाँ स्त्री-भोग से ही उत्पन्न होती हैं। कामभोगों में सुखानुभव तो क्षणिक होता है और दुःख दीर्घकालीन. उनमें सुखानुभव तो सुई की नोक के समान थोड़ा है और दुःख का कोई पार नहीं। ये कामभोग सब अनर्थों की जड़ हैं। ये संसार से सम्मुख करनेवाले और मोक्ष से विमुख करनेवाले हैं। वैराग्य से ही मनुष्य स्त्री भोग से मुक्त हो सकता है और स्त्री-भोग से वैरागी पुरुष ही परम आत्मिक सुख को प्राप्त कर सकता है।

पुरुषार्थी ब्रह्मचारी अनासक्त रहता है और त्याग किए हुए भोगों की फिर से इच्छा नहीं करता।

ब्रह्मचर्य ग्रहण करने पर भी जो मन में स्त्रियों के प्रति आसक्त रहता है और मन-मन में भोगे हुए भोगों का स्मरण करता रहता है वह दुगने वेग से गिरता है।

पीछे ताकनेवाला जिनरक्षित छला गया और अनर्थ को प्राप्त हुआ और अनासक्त जिनपालित निर्विघ्न क्षेम कुशल-पूर्वक अपने घर पहुँचा, उसी तरह विषयी ब्रह्मचारी महाघोर संसाररूपी सागर में गिर कर अनेक तरह से छेदा भेदा जाता है और अनासक्त ब्रह्मचारी संसाररूपी घोर समुद्र को तिर जाता है।